श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम

का

परिचय

पदाधिकारी

प्रेसीडेन्ट—श्रीमान् सेठ हीरालालजी नांदेचा

वाइस प्रेसीडेन्ट—श्रीमान् बालचन्दजी श्रीश्रीमाल

खजाञ्ची—श्रीमान् सेठ वर्दीचन्दजी वर्धभानजी पीतलिया

सञ्चालक—सुजानमल गांदिया

चालू प्रवृत्तियां

१ श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड का सञ्चालन.

२ शिक्षण संस्थाओं का सञ्चालन.

३ साहित्य का सम्पादन एवं प्रकाशन.

४ न्यायपूर्ण, सरल, सत्य सिद्धान्तों का प्रचार.

सदस्य

रू. ५०१) से अधिक एक मुश्त देने वाले वंशपरम्परा के सदस्य.

रू. १०१) से ५००) तक देने वाले आजीवन सदस्य.

रू. २) वार्षिक शुल्क देने वाले वार्षिक सदस्य माने जाते हैं।

पुस्तकों के प्राप्ति स्थान

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम (मध्यभारत)।

श्री जैन जवाहर मित्र मण्डल मेवाड़ी बाजार, ब्यावर।

श्री सोहनलाल जैन रजोहरण पात्र भण्डार, अम्बाला (पंजाब)।

श्री सेठीया जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर (मारवाड़)।

श्री जैन जवाहर मण्डल रायपुर (सी. पी.)।

श्री जैन नवयुवक मण्डल कान्धला मुजफ्फरनगर।

श्री जवाहरविद्यापीठ-भीनासर (बीकानेर)

आवश्यक निवेदन

श्रीमज्जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज साहब जैन समाज में सुप्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य हो गये हैं। उन्होंने अपने व्याख्यानों द्वारा आदिभौतिक आध्यात्मिक और शास्त्रीय गूढ़ रहस्यों को बड़ी सरल और रोचक शैली से समझाये हैं।

श्री भगवती सूत्र के प्रथम शतक की विशद व्याख्या-पूज्य श्री के प्रवचनों में से सम्पादन करा कर २१२६ पेज में छः भागों में प्रकाशित की गई है। प्रथम भाग में केवल सूत्र की पाठिका ही दी गई है। दूसरे भाग में प्रथम शतक के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक की व्याख्या दी गई है। तीसरे भाग में, तीसरे, चौथे एवं पांचवे उद्देशक की व्याख्या दी है। चौथे भाग में छट्ठे व सातवें उद्देशक की व्याख्या दी है। पांचवें भाग में आठवें उद्देशक की एवं कुछ नवमें उद्देशक की व्याख्या आई है। और छट्ठे भाग में नवमें की पूर्ण एवं दसवें की भी पूर्ण व्याख्या दी गई है। इस प्रकार से छः भागों में प्रथम शतक के दसों उद्देशक की पूर्ण व्याख्या की गई है। पांच भाग तो पहले प्रकट किये जा चुके हैं और आज यह छट्ठा भाग भी आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हैं। केवल प्रथम शतक की व्याख्या में ही इतने भाग बन गये है; तब सम्पूर्ण सूत्र की व्याख्या होती तो कितना विस्तृत साहित्य बनता—इस पर से पूज्य श्री का कितना विशाल अनुभव सैद्धान्तिक विषय में था और वे कैसे व्याख्याकार थे यह सहज समझ में आ सकता है।

श्री भगवतीसूत्र के व्याख्यानों को सम्पादन कराने का श्रेय श्रीमान् सेठ इन्दरचन्दजी साहब गेलड़ा की उदारता, एवं श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी साहब गेलड़ा की प्रेरणा को है। एतदर्थ हम इन सज्जनों का पुनः आभार मानते हैं।

इस छट्ठे भाग के प्रकाशन में खास तौर से किसी की आर्थिक सहायता प्राप्त नहीं हुई है। इस पुस्तक में प्रथम शतक का दशवां उद्देशक सम्पूर्ण करना पड़ा है जिससे यह पुस्तक चार सौ पृष्ठ के करीब की हो गई है और इससे छपाई की लागत करीब रु. २) की होती है परन्तु पूज्यश्री के प्रवचनों का प्रचार करने के हेतु, श्री जवाहर स्मारक फंड में से सहायता लेकर इस पुस्तक को पौण मूल्य सिर्फ रु. १॥) में वितरण करते हैं।

अन्त में हम यह जाहिर कर देना उचित समझते हैं कि पूज्य श्री के प्रवचन साधु भाषा में ही होते थे। संग्राहक या सम्पादक से कोई त्रुटी हो गई हो तो संग्राहक या सम्पादक ही उसके उत्तरदाता हो सकते हैं। यदि कोई वाक्य जैनागम शैली से विपरीत निगाह में आवे तो हमें सूचित करने से भविष्य में साभार संशोधन कर दिया जावेगा। इत्यलम् ॥

रतलाम. मिती कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा सं० २००७।

भवदीय—

बालचंद श्रीश्रीमाल, हीरालाल नांदेचा.

वॉ. प्रेसिडेन्ट. प्रेसिडेन्ट.

श्री सा० जैन पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी म० की
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल

रतलाम [मालवा]

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्

(पञ्चमाङ्गम्)

छठा भाग

प्रथम शतक नवम्-उद्देशक

(पांचवे भाग से आगे)

विवेक का विवेचन

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने कहा-'स्थविर ! आप विवेक नहीं जानते और विवेक का अर्थ भी नहीं जानते ।' यह बात यों तो कड़ी है, मगर स्थविर भगवान् कहते हैं—अगर मैं विवेक और विवेक का अर्थ जानता हूँ तो यहाँ भी विवेक से ही काम लूंगा। इस प्रकार विचार कर उन्होंने मुनि से कहा—'हम विवेक भी जानते हैं और विवेक का अर्थ भी जानते हैं।'

आप यह न भूलें कि आप गणधर की कही हुई बातें सुन रहे हैं। आगे-आगे की सुनते और पीछे-पीछे की भूलते मत जाओ। किन्तु पिछली बात से अगली बात जोड़ते चलो। माला में नया मनका पोते जाइए और पिछला गिराते जाइए तो माला नहीं बन सकती। माला बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पहले पोये हुए मनकों को गिरने न दो और आगे के पोय जाओ। इसी प्रकार गणधर की कही हुई पिछली बातें, जो आपने सुनी हैं, उनके साथ नवीन बातों को मिलाते चलो तो माला तैयार हो जायगी।

ज्ञानी पुरुष संक्षेप में ही वस्तु-तत्व समझ जाते हैं। लेकिन हम लोग तो विस्तार से कहने पर ही समझ सकते हैं। इसलिए यहां विस्तार से चर्चा की जाती है।

स्थविर भगवान् ने मुनि की किसी और बात पर ध्यान न देकर कहा—हम विवेक और विवेक का अर्थ जानते हैं। आपके घर में रुपया होने पर भी कोई कहे कि आपके पास रुपया नहीं है, तो आपको क्रोध नहीं आएगा। वरन् आप रुपया निकाल कर दे देंगे। हां, जब वास्तव में रुपया न होगा तो भले ही अपने को रुपया वाला प्रकट करने के लिए बकवाद करें। स्थविर भगवान् ने खोटी चर्चा पर ध्यान न देकर मूल तत्व का ही विचार किया। उन्होंने कहा—हम विवेक को जानते हैं और उसका अर्थ भी जानते हैं। और उन्होंने अपने व्यवहार से ही यह बात प्रमाणित कर दी।

विवेक और उसके अर्थ के विषय में टीकाकार ने जो कथन किया है, उसके आधार से कुछ विवेचन किया जाता है। विशिष्ट ज्ञान को, अत्यन्त अच्छे ज्ञान को, विवेक कहते हैं। विवेक का अर्थ बताते हुए कोश में कहा है कि पार्थक्यकरण को अर्थात् मिली हुई अच्छी और बुरी वस्तुओं को अलग-अलग करने को विवेक कहते हैं। विवेक को भेद विज्ञान भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विवेक वह है जो अच्छी और बुरी चीज को अलग-अलग कर दे।

यों तो दूध से मक्खन को अलग करना और धूल से सोने को अलग करना भी विवेक कहा जा सकता है, मगर यहां इस प्रकारके विवेक की बात नहीं है। जैसे जमे हुए दही में छाछ भी है, उन्हें अलग करना सांसारिक विवेक है, उसी तरह शरीर और आत्मा मिला हुआ है। इन्हें अलग करना लोकोत्तर विवेक है। यहां इसी विवेक से अभिप्राय है।

दही और मक्खन का उदाहरण लेकर ही नास्तिक लोग कहते हैं–'जिस प्रकार दही में से मक्खन निकाल कर बता दिया जाता है, उसी तरह शरीर में से आत्मा निकाल कर बता दिया जाय तो हम आत्मा का अस्तित्व मानें। दही में से मक्खन और तिल में से तेल निकाल कर बताने की तरह आत्मा को शरीर में से निकाल कर नहीं बताया जा सकता तो आत्मा के अस्तित्व की बात झूठी है।

नास्तिकों की यह बात विवेक से ही समझना चाहिए। जो विवेक को जानता होगा वह नास्तिक की बात सुनकर यही कहेगा कि वह आत्मा को नहीं जानता, पर मैं जानता हूँ। राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से यही कहा था कि शरीर और जीव दो नहीं हैं। केशी श्रमण ने उसे समझा दिया। वह सारा विवरण सुनाने का समय नहीं है। संक्षेप यह है कि तू तलवार और म्यान, घी और छाछ तथा खल और तेल की तरह आत्मा को शरीर से अलग देखना चाहता है, सो यह तेरी भूल है।

भग्गू पुरोहित के देवभद्र और यशोभद्र नामक लड़के दीक्षा लेने को तैयार हुए। भग्गू उन्हें रोकना चाहता था। यों तो भग्गू वेद-वेदान्त का जानकार था, लेकिन मोह के वश होकर नास्तिकवाद की स्थापना करके उसने अपने लड़कों को दीक्षा लेने से रोकना चाहा। उसने अपने लड़कों से कहा—तुम लोग क्यों व्यर्थ कष्ट करते हो? जबतक यह शरीर है, तभी तक सारा खेल है। शरीर नष्ट हो जाने पर कुछ भी नहीं बचता। इसलिए खाओ, पीओ और मौज करो। मरने के बाद क्या रक्खा है!

इस प्रकार कहकर भग्गू ने नास्तिकवाद की स्थापना की। किन्तु उसके दोनों लड़के भाव-साधु हो चुके थे। उन्होंने अपने पिता से कहा:—

> नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ णिच्चं।
> अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो, संसारहेउं च वयंति बंधं॥
>
> श्री उ० १४ अ०

उन्होंने कहा—पिताजी, आपने जो कुछ कहा, उससे ऐसा मालूम होता है कि आप स्थूल दृष्टि से ऊपरी विचार कर रहे हैं। आप भीतर की ओर नहीं देखते। जिस आत्मा के सूक्ष्मरूप से सारा संसार घूम रहा है, क्या आप उसे तिल और तेल तथा तलवार और म्यान की तरह अलग-अलग देखना चाहते हैं? अगर ऐसा है तो आप भूलते हैं। यह भूल ऐसी ही है,

जैसे कोई आदमी अपनी आंख निकाल कर देखना चाहे कि देखें किससे दिखाई देता है ? वह आंख निकालने वाला यह नहीं सोचता कि मैं आंख निकाल देता हूं तब देखूंगा कैसे ?

जो आदमी शरीर से अलग आत्मा देखना चाहता है, उससे कहो कि पहले तुम अपनी पढ़ाई तो निकाल कर दिखाओ, वह कहाँ और कैसी है ! तुम्हारे अन्दर देखने की शक्ति है या नहीं ? अगर है तो जरा बाहर निकाल कर दिखाओ तो सही ! अगर नहीं दिखा सकते तो जीव को अलग देखने का हठ क्यों करते हो ?

दोनों भाइयों ने कहा—पिताजी, आप आत्मा को नहीं देखते, हम देखते हैं। अगर जीव नहीं है तो बोलता कौन है ? संसार में खाने, पीने और मौज करने का विधान करने वाला कौन है ? आप जो कुछ भी बोल रहे हैं, सो वह 'आप' कौन है ? कोई स्त्री दीपक लेकर पदार्थों को तो देख रही हो, मगर कहती हो कि 'मैं नहीं हूं,' ऐसा ही कथन आपका है।

जो दिखता है वह आत्मा नहीं है, मगर जो देखता है वह आत्मा है। सुनना आत्मा नहीं है मगर सुनने वाला आत्मा है। चखना आत्मा नहीं, चखने वाला आत्मा है। जड़ पदार्थ चखकर किसी को खट्टा-मीठा नहीं बता सकता। यह आत्मा का ही काम है। वही खट्टा, मीठा और गर्म, ठंडा जान सकता है।

भाव मुनियों ने कहा—पिताजी ! आत्मा है। इस विषय में हमें तनिक भी संदेह नहीं है। इसलिए आप हमारी दीक्षा में विघ्न मत डालिए। आत्मा है और नित्य है। वह संसार के दूसरे पदार्थों के समान नाशवान् नहीं है।

नास्तिकों का कथन है कि परलोक से किसी आत्मा के आने-जाने की बात गलत है। शरीर की आग से ही शरीर जीवित है और आग निकल जाने पर शरीर मर जाता है। अगर ऐसा है तो आधुनिक विज्ञान के अभ्युदय के युग में ऐसा कोई उपाय क्यों नहीं निकाला गया कि मरे शरीर में फिर से आग को प्रविष्ट कर दिया जाय ? मरे हुए को पुनः जीवित क्यों नहीं कर लिया जाता। यह बात गलत है कि शरीर घड़ी के समान है, जो सब पुर्जों के मिलने से चलती है और बिखरने से खराब हो जाती है। हम घड़ी को आत्मा नहीं कहते किन्तु घड़ी बनाने वाले और उसे तोड़ने वाले को आत्मा कहते हैं।

विवेक को जानने वाला इस प्रकार शरीर और आत्मा को अलग-अलग करता है। इसका अर्थ यह न समझलें कि वह फाँसी के तख्ते पर चढ़ कर शरीर और आत्मा को अलग करता है। इसका अर्थ यह है कि विवेकवान् दोनों को भिन्न-भिन्न समझता है।

जब शरीर और आत्मा मूल स्वभाव से ही अलग-अलग हैं तो आत्मा शरीर में फँसा कैसे ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा को किसी और ने शरीर में नहीं फँसाया, वरन् आप ही वह फँसा हुआ है । आत्मा त्याज्य को ग्रहण करता है और ग्राह्य को त्यागता है । इसी से वह शरीर के जाल में पड़ा है । इस जाल से निकलने का उपाय क्या है, यह बात मैं महाभारत का उद्धरण देकर बताता हूँ, जिससे किसी को मतभेद नहीं है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकुलानि परेषां न समाचरेत् ॥

अर्थात्—सुनो, चाहे अब सुनो चाहे फिर सुनो, पर यह बात सुने बिना आत्मा शरीर के जाल से नहीं निकल सकता । मगर केवल सुनो नहीं, सुनकर धारण भी करो । इस बात को अच्छी तरह धारण करलो कि जो बात तुम्हें पसंद नहीं है, वह दूसरे के लिए भी पसंद मत करो । यही धर्म का सार है ।

कोई आदमी नंगी तलवार लेकर आपके सामने आता है और कहता है—'तुम्हारा सिर काटूंगा ।' उस आदमी को आप पापी समझेंगे । एक और आदमी उससे कहता है—'हाँ, जल्दी करो, इसे समाप्त ही कर डालो' । तीसरा आदमी कहता है—'नहीं, इसे मत मारो ।' आप बताइए इनमें से आप को किसकी बात

पसंद होगी ? निस्संदेह आप तीसरे आदमी की बात पसंद करेंगे जो नहीं मारने को कहता है। यह पसंदगी आप में कहाँ से आई ? क्या आपने किसी वेद, पुराण या शास्त्र से यह सीखी है ? नहीं यह आपके आत्मा से ही आई है। आपका आत्मा कहता है-जो मारने के लिए कहता है वह पापी है, बुरा है और जो बचाने की बात कहता है वह धर्मात्मा और अच्छा है। इस प्रकार आपका आत्मा स्वीकार करता है कि मारना पाप है और बचाना धर्म है। इस आत्मानुभव से धर्म का सार दया है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

लेकिन मनुष्य कितना स्वार्थी है ! वह अपने लिए तो दया प्यारी समझता है और दूसरे के लिए दया को भूलजाता है। उसे याद नहीं रहता कि मुझे दया प्रिय है तो दूसरे को भी दया प्रिय है। जो बात अपने लिए आप पसंद करते हैं, वही बात आप दूसरे के लिए क्यों पसंद नहीं करते ?

कुछ लोग कहते हैं—न मारना तो दया है, लेकिन बचाना दया नहीं, बल्कि पाप है। जिसे बचाया है, वह बचकर जो पाप करेगा वह पाप बचाने वाले को लगेगा। अतएव हमें किसी जीव को मारना तो नहीं चाहिए लेकिन बचाना भी नहीं चाहिए। कोई मारता है, कोई मरता है, हमें उनके बीच में क्यों पड़ना चाहिए ?

ऐसा कहने वालों से यह पूछा जा सकता है कि रक्षा करने से पाप लगता है, ऐसा मानकर किसी की रक्षा नहीं करनी है तो किसी को उपदेश देना भी पाप हो जायगा । उपदेश सुनकर सुनने वाला जीव नहीं मारेगा । जीव मारता तो नरक में जाता । जीव नहीं मारेगा तो स्वर्ग में जायगा । वहां भोग भोगेगा । इस भोग का पाप न मारने का उपदेश देने वाले को लगना चाहिए । अगर यह बचाव किया जाय कि हमारा भाव पाप कराने का नहीं था तो बचाने वाले का भी पाप करने का कब था ? बचाने वाला एकान्त करुणाभाव से जीव बचाता है । फिर उसे पाप कैसे लगा ? शक्ति होने पर भी मरते हुए जीव की रक्षा न करना निर्दयता है । कोई आदमी तुम्हें मारता हो और दूसरा आदमी वहां बैठा-बैठा देखता हो तो तुम उसे क्या कहोगे? क्या उसे निर्दय न कहोगे ? यदि कहोगे तो दूसरे के लिए यह बात क्यों नहीं देखते ?

मतलब यह है कि न मारने मात्र से रक्षा का काम पूरा नहीं होता, किन्तु मरते हुए को बचाने से ही रक्षा का काम पूरा होता है ।

तुम्हें झूठ बोलने वाला प्रिय लगता है या सत्य बोलने वाला ? अगर तुम्हें अपने लिए सत्य प्रिय लगता है तो यह भी सोचो कि दूसरे को भी सत्य प्रिय लगता है । इसलिए अगर तुम

चाहते हो कि मेरे साथ सब सत्यपूर्ण व्यवहार करें तो तुम भी सब के साथ सत्यमय व्यवहार करो। चाहे संसार के सभी लोग झूठ बोलें, पर तुम सत्य पर अटल रहो।

सारांश यह है कि जो बात तुम्हें पसन्द नहीं है, वह दूसरों के लिए भी पसन्द मत करो। किसी ने कहा है—यदि तू चाहता है कि मेरे सामने बुराई न आवे तो तू भी किसी के साथ बुराई मत कर। तू दूसरे का भला कर, तेरा भी भला होगा।

ऐसा विचार करके त्यागने योग्य काम को त्यागना विवेक है। अब विवेक के फल का विचार करना चाहिए। विवेक का अर्थ यानि प्रयोजन क्या है ? सिर्फ विवेक से काम नहीं चलता। जो विवेक किया है उसमें से बुराई को त्याग कर अच्छाई को ग्रहण करना अर्थात् व्यवहार में लाना विवेक का फल है। तुमने आमका पेड़ लगाया। पेड़ लग गया। बड़ा हो गया। फिरभी उसमें फल न लगें तो कहोगे—व्यर्थ ही लगाया। इसी प्रकार विवेक तो हुआ पर उसका फल न हुआ तो उससे क्या मतलब निकला ? गाय लाये, मोटी-ताजी हुई मगर दूध नहीं देती है तो क्या उसे पसंद करोगे ? इसी प्रकार किसी बात का जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, जानकर त्याज्य को त्यागने और ग्राह्य को ग्रहण करने में ही ज्ञान की सार्थकता है।

कभी-कभी धर्म या धर्मगुरु आदि को लेकर विसंवाद खड़ा हो जाता है। मगर सत्य-असत्य का निर्णय आपका अन्तरात्मा कर सकता है। कदाचित् आत्मा निर्णय न कर सके तो परमात्मा से प्रार्थना करो। प्रार्थना करने से इस प्रकार की पहचान करने में बहुत सहायता मिलेगी। वादी और प्रतिवादी की बात सुनकर विवेक से किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। निरर्थक वादविवाद से कोई परिणाम नहीं निकलता।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विषय का निर्णय विवेक से करो। अगर विवेक से शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझ लिया हो, तो कसौटी का मौका आने पर इस बात को भूल मत जाओ। अगर आप जानते हैं कि शरीर और आत्मा एक नहीं-दो हैं, तथा आत्मा अविनाशी और शरीर नाशवान् है तो नाशवान् के लिए अविनाशी का अपमान मत करो। आप तुच्छ बात के लिए भी अविनाशी का अपमान कर देते हैं। इसीलिए ज्ञानी कहते हैं—विवेक से काम लो और तुच्छ के लिए महान को न भूलो। चतुरसिंहजी ने कहा है—

> बेना आपणो बनाव घणां मोक को करां,
>
> पेली आगली सत्यांरे पग लागणी करां।
>
> पति-प्रेम रा पवित्र नीर मांय सांपड़ां ॥बेना०॥

कवि का आशय यह है कि—कुछ सखियाँ इकट्ठी हुई हैं। उस समय एक सखी दूसरी से कहती है—हमें अपना बनाव और शृंगार मूल्यवान् बनाना चाहिए, ऐसा मूल्यवान् कि त्रिलोक में अपने बनाव की कोई कीमत न दे सके। आप गहना, पोशाक आदि बनाव समझती होओगी और कहोगी कि इससे अधिक कीमती बनाव कहाँ से लावें ? स्नान के लिए गंगाजल से भी उत्तम जल कहाँ से लावें ? लेकिन बाहर का यह बनाव तुच्छ है। फिर भी मैं इस तुच्छ का एकदम सर्वथा त्याग करने को नहीं कहती। लेकिन इन सब पर एक सिद्धमंत्र फेर दो। वह सिद्धमंत्र यह है कि पहले जो सतियाँ हुई हैं, उन्हें नमस्कार करो और उन्होंने जो कुछ किया है उसे याद करो। फिर पति-प्रेम के जल में स्नान करो, विवेक से काम लो, जिससे अपना यह शृंगार दूषित न होने पाए।

मतलब यह है कि विवेक ही मनुष्य का सर्वोत्तम शृंगार है। विवेक आत्मा का सौन्दर्य है। अतएव क्षणभर के लिए भी विवेक को मत भूलो।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि विशिष्ट ज्ञान विवेक कहलाता है। आजकल जिसे विज्ञान कहते हैं, उसी का नाम विवेक है। विज्ञान में आजकल भौतिक या जड़ विज्ञान की प्रधानता है और विवेक में आत्म विज्ञान की प्रधानता है। आज का विज्ञान

भी आपको विशिष्ट बातें बतलाता है। आग और पानी को तो आप पहले से ही जानते थे, परन्तु यह नहीं जानते थे कि इनसे हजारों मन बोझ खींचा जा सकता है। विज्ञान द्वारा यह बात मालूम हो गई। आज कल के वैज्ञानिक इस भौतिक विज्ञान में ही पड़े हुए हैं, लेकिन प्राचीन काल के ज्ञानियों ने-पूर्वाचार्यों ने-चैतन्य का विज्ञान बताया है। आज जो विज्ञान चल रहा और बढ़ रहा है, लोग जिस विज्ञान में पड़े हुए हैं, उस विज्ञान से तो शान्ति का नाश और अशान्ति की वृद्धि ही हुई है।

एक समाचार पत्र में मैंने पढ़ा था कि-एक यूरोपियन ने कहा कि आज कल मैं सब से बड़ा आदमी हूँ। उसने अपने बड़प्पन के विषय में भाषण देते हुए बताया कि जब मैं आज्ञा देता हूँ, तब मशीन चलती है और जब आज्ञा देता हूँ, मशीन बंद हो जाती है। उसने प्रयोग करके दिखलाया। एक बड़ी मशीन को चलने का हुक्म दिया। मशीन चलने लगी। फिर मशीन को बंद होने की आज्ञा दी, तब वह बन्द हो गई। उसने समझाया-मैंने यह काम जादू से नहीं किया है। मैंने मशीन का निर्माण करके, इसमें रेडियो आदि का ऐसा संबंध स्थापित किया है कि मेरे हुक्म का भार मशीन पर पड़ता है और उस भार के कारण वह चलने लगती है तथा बंद हो जाती है। मैंने अभी एक यही मशीन बनाई है लेकिन ऐसी बहुत-सी बन सकती हैं।

उनके बनने पर लोगों को खेती करने के लिए खेत पर जाने की आवश्यकता न रहेगी। घर में बैठे-बैठे हुक्म देने से ही मशीन काम करने लगेगी और हुक्म देने पर काम करना बंद कर देगी।

उस वैज्ञानिक ने ऐसी मशीन बनाई है। पर इसके आविष्कार के संबंध में लोगों का मत है कि इस तरह की मशीन का प्रचार न होना ही अच्छा है। नहीं तो संसार में हाय हाय मच जायगी। जिसके हुक्म से मशीन चलेगी वह संयमी तो होगा नहीं, जो उसके उपयोग में संयम से काम ले। उसमें राग-द्वेष होगा। राग-द्वेष से प्रेरित होकर वह दूसरों के गले काटने का हुक्म देगा। इस प्रकार संसार में और ज्यादा मारकाट मच जाएगी। इस बात को दृष्टि में रखकर ही ज्ञानी कहते हैं कि जड़-विज्ञान में ही न पड़े रहकर चैतन्य-विज्ञान की ओर आओ। जड़-विज्ञान से कभी शान्ति नहीं हो सकती। जड़-विज्ञान से जितना बच सको, बचो। नहीं तो अशान्ति ही अशान्ति फैलेगी।

विशिष्ट ज्ञान को विवेक कहते हैं, यह बात तो हुई, लेकिन विवेक का फल क्या है? इस विषय में टीकाकार कहते हैं— प्रत्येक बात विज्ञान से समझना और जो त्यागने के योग्य है उसे त्यागकर ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना विवेक का फल है। अगर विवेक करके भी उसका उपयोग न किया तो विवेक निष्फल

है। उदाहरणार्थ—किसी सेठ की स्त्री ने कहा—'घर में चोर घुस आये हैं।' सेठ ने उत्तर दिया—'हां, मुझे मालूम है।' स्त्री बोली—'जानते हो, मगर माल चला जायगा तो जानना क्या काम आएगा ?'

माल जाने के समय ऐसी गलती कदाचित् ही कोई करता होगा, मगर धर्म के काम में अकसर ऐसी गलती होती है। यह जानते हुए भी कि यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है, ग्राह्य को ग्रहण नहीं करते और त्याज्य को त्यागते नहीं। ऐसी अवस्था में जानना किस काम आया ? अतएव विवेक की सार्थकता के लिए आचरण में उसका उपयोग करो।

स्थविर भगवान् कहते हैं—हम विवेक और विवेक का अर्थ जानते हैं। न जानते होते तो आपके वचनों को कटुक रूप में ग्रहण क्यों न करते ?

मुनि ने कहा—अगर आप विवेक और विवेक के अर्थ को जानते हैं तो बताइए कि विवेक क्या है और उसका अर्थ क्या है ?

स्थविर भगवान् ने उत्तर दिया—'हमारे मत से आत्मा ही विवेक है और आत्मा ही विवेक का अर्थ है। मुनि ने इतने में ही अभिप्राय समझ लिया होगा, मगर हमें विस्तार की आवश्यकता

होती है। इसलिए देखना चाहिए कि आत्मा ही विवेक और विवेक का अर्थ किस प्रकार है?

यह कहा जा चुका है कि अलग-अलग करना विवेक है। लेकिन प्रश्न होता है कि अलग-अलग करता कौन है? मट्ठा और मक्खन मथानी (रवई) द्वारा अलग किया जाता है, लेकिन अलग करने वाला कौन है? अलग करने वाला आत्मा ही है और आत्मा ही यह जानता है कि मक्खन में क्या गुण है। विवेक आत्मा को ही होता है और आत्मा को ही विवेक का फल मिलता है। इसलिए द्रव्यार्थिक नय से आत्मा ही विवेक है और आत्मा ही विवेक का अर्थ भी है।

आत्मा क्या है, यह बताने के लिए एक सैद्धान्तिक बात कहता हूँ। उससे आत्मा का पता चल जायगा। समस्त विज्ञान में आत्मा ही है। आत्मा ही ग्राह्य है और सब त्याज्य है। आत्मा को बताने के लिए मैं जो कुछ कहता हूँ, प्राचीन भाषा में कहता हूँ थोड़े में वह यह है—

यं आत्मा अवहतपापा विजयोर्मृत्यर्धत्तो

एक जगह कहा है—यह मेरा आत्मा कभी पापों से अवहत नहीं होता, मारा नहीं जाता। यह बात द्रव्यार्थिक नय और शुद्ध संग्रह नय की है। आप से कोई कहता है—'मैं तुझे पापी बना दूंगा। लेकिन आपको समझना चाहिए कि आत्मा ऐसा

नहीं कि किसी के बनाने से पापी बन जाय। आपके पास कोई पत्थर की चीज हो, उसके लिए कोई कहता है--'मैं दियासलाई लगाकर इसे भस्म कर दूंगा।' तो उसके कथन से आपको कोई भय न होगा ? भय इस कारण नहीं होगा कि आपको विश्वास है कि मेरी वस्तु दियासलाई से भस्म नहीं हो सकती। यही बात आत्मा के लिए भी समझो। आत्मा महान् वज्र का है। इसे पाप की बड़ी से बड़ी आग भी नहीं जला सकती। आत्मा अनन्त बार सातवें नरक में गया। वहां पाप हार गये, आत्मा नहीं हारा। पाप इसे भस्म नहीं कर सके। नरक का आयुष्य समाप्त हो गया. मगर आत्मा समाप्त नहीं हुआ। ऐसा है यह आत्मा ! फिर भी आज पुद्गल का राज्य हो रहा है। आत्मा अवहतपापा है। इस लिए आत्मा की ओर देखो।

आत्मा चिन्ता और शोक से रहित है। यह अजर-अमर है। इसे न जरा आती है, न मृत्यु आती है। पर्याय-विशेष होने पर ही जरा-मरण है, शुद्ध आत्मद्रव्य में यह सब कुछ नहीं है। वह जरा आदि से सर्वथा अस्पृष्ट है।

आपको जो चिन्ता होती है वह अनात्मा संबंधी ही होती है या कभी आत्मा संबंधी भी ? क्या आप कभी यह विचार करते हैं कि मैं अमर क्यों हूँ ? आप यह तो सोचते हैं कि मैं मरूँगा, लेकिन यह क्यों नहीं सोचते कि मरता कौन है ? मैं

अमर हूँ, शरीर मरता है। मरना तो सिर्फ चोला बदलना है, फिर चिन्ता किस बात की ? शोक का क्या कारण है ?

आत्मा चिन्ता-शोक रहित होने के साथ ही न कुछ खाता है, न पीता है। आप कहेंगे-आत्मा खाता-पीता नहीं तो कौन खाता-पीता है ? अगर शरीर खाता है तो मुर्दा क्यों नहीं-खाता ? वह भी तो शरीर ही है। अगर कहा जाय कि आत्मा खाता है तो मुक्तात्मा क्यों नहीं खाता ? असल बात यह है कि जब तक आत्मा शरीर में बैठा है—सशरीर पर्याय में है तब तक खाता है। शरीर से मुक्त होने के बाद न वह खाता है, न पीता है। आपमें और सिद्धात्मा में कोई अन्तर नहीं, केवल कर्म के मैल का अन्तर है। सिद्धात्मा कर्म के मैल से मुक्त हैं और आप युक्त हैं। इसीसे कहा है-

सिद्धां जैसो जीव है जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म-मैल का अन्तरा बुज्झे विरला कोय ॥

संसारी आत्मा और सिद्धात्मा में केवल कर्म का अन्तर है। आत्मा अशुद्ध पर्याय में है तभी तक खाता है। ऐसी पर्याय में रहने से लालसा रहती है और जब तक लालसा है, तभी तक खाता है। आप उपवास करते हैं तब लालसा होती है ? नहीं होती, इसी से नहीं खाते। लालसा छूट जाने पर न कोई खाना, न पीना है।

आत्मा सत्यकाया है, असत्यकाया नहीं। अशुद्ध दशा से छूट जाने पर वह सत्यकाया है। अगर आप से कोई झूठ बोले तो आप झूठ को पसन्द करेंगे या सत्य को ? आप सत्य को ही पसन्द करेंगे, क्योंकि आत्मा स्वभाव से सत्यकाया है। लेकिन आज आत्मा असत्कायी बन रहा है, यह बुराई है। आत्मा में जब सत्संकल्प का उदय होता है तब वह इन बुराइयों से बच जाता है। इसलिए संकल्प को सत् बनाओ। विवेक से आत्मा की खोज करो। विवेक से ही आत्मा को जगाओ। इससे आपका भी कल्याण होगा और जगत् का भी कल्याण होगा। आत्मा पर विश्वास करो। वह कहीं बाहर नहीं है। तलाश करने वाला स्वयं ही आत्मा है। सिर्फ अपने आपको यह पहचानने की आवश्यकता है।

आत्मार्थी बनो। आत्मार्थी बनने पर कोई भी कष्ट आपको स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मार्थी के पास सभी सुख दौड़े आते हैं। जैसे नदियां समुद्र की ओर ही दौड़ती हैं, उसी प्रकार सब सुखों को आत्मार्थी के पास आना ही पड़ता है। आत्म कामना से स्वर्ग आदि के साधारण सुख अनायास ही मिलते हैं। इस लिए आत्मा का विवेक करो।

व्युत्सर्ग का विवेचन

विवेक के बाद व्युत्सर्ग की बात आती है। कालास्यवेषि-पुत्र मुनि, स्थविर भगवान् से कहते हैं—'हे स्थविर ! आप व्युत्सर्ग

को और व्युत्सर्ग के अर्थ को नहीं जानते'। मुनि को भी व्युत्सर्ग का अर्थ न जानने की बात कहना, कुछ अच्छा सा नहीं मालूम होता। मगर स्थविर को यह चुभती नहीं है। वे सोचते हैं—'जैसा ये समझते हैं वैसा कहते हैं। इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं है।' यह विचार कर उन्होंने कहा—'हे आर्य! हम व्युत्सर्ग भी जानते हैं और व्युत्सर्ग का अर्थ भी जानते हैं।

व्युत्सर्ग और उसका अर्थ बताने के लिए टीकाकार कहते हैं कि यों तो सामायिक, प्रत्याख्यान, संवर, संयम और विवेक आदि सब व्युत्सर्ग में ही आ जाते हैं। किसी अपेक्षा से अभेद होने पर भी अपेक्षा-विशेष से यह सब भिन्न हैं। व्युत्सर्ग इन सब से भिन्न इस कारण है कि व्युत्सर्ग काय आदि के संबंध में है। व्युत्सर्ग का संबंध काय आदि के साथ बतलाया गया है। आदि शब्द से यद्यपि औरों का भी ग्रहण होता है, मगर उन सब में काम ही मुख्य है। काय की हलन-चलन आदि चेष्टा को रोक कर उसे स्थिर करना व्युत्सर्ग कहलाता है।

व्युत्सर्ग एक साधारण बात मालूम होती है, मगर वह आत्म-ज्योति प्रकट करने का एक सफल साधन है। इसमें हठ योग की सारी क्रिया आ जाती है। इससे यह पता चल जाता है कि श्वास किस प्रकार लेना और किस प्रकार छोड़ना चाहिए? यों तो श्वास लेना प्राकृतिक काम है और सभी प्राणी श्वास

लेते हैं, मगर उसका भी एक खास तरीका है। श्वास लेने का प्राकृतिक साधन नाक है, मुँह नहीं। भोजन करने और बोलने के समय को छोड़ कर दूसरे समय मुँह खुला रखना व्युत्सर्ग को न जानना है।

कई आदमी मुँह फटा रखकर सोते हैं और घर्र-घर्र करके मुँह से ही श्वास लेते हैं। ऐसा करना हानिकारक है। व्युत्सर्ग द्वारा श्वास की क्रिया समझकर प्राणायाम से बढ़ते हुए परम समाधि तक पहुँच जाना व्युत्सर्ग का पूरा हो जाना है।

आप सामायिक करते हुए कायोत्सर्ग में काय को वोसराते हैं—काम का हलन-चलन बंद करते हैं, यह व्युत्सर्ग है। ज्यों-ज्यों हलन-चलन की क्रिया रुकती है, त्यों-त्यों व्युत्सर्ग बढ़ता जाता है। काय की क्रिया यों अनायास ही नहीं रुक सकती किन्तु उसके लिए उपाय करने की आवश्यकता पड़ती है। काय को किस प्रकार साधा जाय-किस प्रकार निर्व्यापार बनाया जाय, यह बात समझ कर अभ्यास करने की जरूरत है। आज अभ्यास न होने के कारण लोगों को 'बीस लोगस्स' का ध्यान करना भी कठिन जान पड़ता है।

व्युत्सर्ग को जानने वाला और काया को स्थिर करने की इच्छा रखने वाला सब से पहले खान-पान पर नियंत्रण करेगा। वह खान-पान का खूब विचार करेगा। जो पुरुष राजस या तामस

भोजन करता है, उसका मन स्थिर नहीं रहता और मन की स्थिरता के बिना तन की स्थिरता नहीं हो सकती। अतएव खान-पान पर नियंत्रण रखकर, काय पर अंकुश रखने वाला और मन को पवित्र रखने वाला ही अच्छी तरह व्युत्सर्ग कर सकता है।

लोग समझते हैं—मांस, मदिरा आदि पदार्थों का खाना केवल जीव रक्षा की दृष्टि से वर्ज्य है, लेकिन इनके अभक्ष्य होने का केवल यही कारण नहीं है। इनका सेवन न करने से काया भी स्थिर रहती है! इस प्रयोजन के लिए भी इनका निषेध है। जो खान-पान का विचार नहीं रखता और शराब आदि पदार्थों का सेवन करता है, उसका मन भी स्थिर नहीं रहता और कभी-कभी वह ऐसे बुरे काम कर बैठता है कि नशा उतरने पर पश्चाताप के कारण वह मर भी जाता है। इसका मूल कारण खान-पान की बुराई ही है। इसलिए सर्व प्रथम भोजन-पान का विचार करना उचित है और उसके बाद श्वास लेने और छोड़ने के संबंध में विचार करना चाहिए। आगे की योग संबंधी क्रियाएँ बिना जाने करने से हानि भी हो सकती है, लेकिन जो आदमी पूर्ण श्वास लेता है, अपूर्ण श्वास नहीं लेता, वह भी व्युत्सर्ग कर सकेगा। पूर्ण श्वास वह है जो पेट में नाभि तक जाकर फिर लौटे। इस प्रकार पहले खान-पान में, फिर श्वासोच्छ्वास में और फिर बोलने में संयम रखना चाहिए।

अधिक बोलने से भी काया स्थिर नहीं रहती। कई बार तो अधिक बोलने से बुराई भी हो जाती है। जो दिन-रात बड़-बड़ाता रहता है, उसकी बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती। उपनिषद् में और पन्नवणा सूत्र में कहा है कि भोजन के सार से आंखों को तेज मिलता है। भोजन के सार से ही आंख बनती है। लोग समझते हैं, देखने में क्या धरा है, परन्तु देखने में भी शक्ति व्यय होती है। आंख को जो सार मिलता है, उससे बड़ा सार वाणी को मिलता है और उससे भी बड़ा सार मन को मिलता है।

आँख; मन और वाणी का अधिक उपयोग करना अपनी शक्ति को अधिक खर्च करना है। इसलिए जहाँ तक संभव हो, अपनी शक्ति को बचाओ। कदाचित् मन को न रोक सको तो वाणी तो आपके अधिकार में ही है। उसे रोको। जो वाणी को रोकेगा, कम बोलेगा, उसका बल और उसकी बुद्धि और ही प्रकार की हो जायगी। बोलना अपना तेज निकालता है। जो कम बोलता है, वह अच्छा करता है।

काय को रोकने के बाद ध्यान को बढ़ाना चाहिए। ध्यान को बढ़ाते चलने से पूर्ण व्युत्सर्ग तक पहुँच सकते हैं। मगर एक बार फिर दोहरा देना आवश्यक है कि इसके लिए सर्व प्रथम भोजन-पान की शुद्धता आवश्यक है। अशुद्ध, अभक्ष्य पदार्थ

खाने वाले का खून खराब हो जाता है और इससे उसका ही नहीं वरन् उसकी सन्तान का भी बिगड़ जाता है। इस प्रकार परम्परा से बहुतों का बिगाड़ होता है।

व्युत्सर्ग का मतलब काय आदि को स्थिर करना है और इसका फल असंगता है। काम के प्रति जो आसक्ति है, वह व्युत्सर्ग से मिटती है। आपने 'लोगस्स' का ध्यान करने के लिए काय का उत्सर्ग किया। अगर उस समय आपको कोई गाली दे या मारे तो आप बोलेंगे? उससे कुछ कहेंगे? उस समय कुछ भी न कहना व्युत्सर्ग का प्रताप है। उस समय आपको यही सोचना चाहिए—काया मेरी नहीं है, तब कौन मारता है और किसे मारता है, इस प्रपंच में पड़ने की मुझे क्या आवश्यकता है? जो मरता है, वह मैं नहीं हूँ। जो मैं हूँ, वह मरता नहीं है। इस तरह का विचार काय के प्रति असंग होने से अर्थात् व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग करने से ही आता है।

अगर ऐसा न करके आप सोचने लगे—'ठहर जा जरा। मेरा ध्यान पूरा हो जाने दे फिर व्याज सहित वसूल करूँगा।' ऐसा विचार आया तो ध्यान गया। ऐसा विचारने वाला काय के प्रति असंग नहीं है। कई लोग तो ध्यान में ही दूसरे को मारने दौड़ते हैं या उसने जो गाली दी, उसका विचार करते हैं। विचारणीय यह है कि—तू गाली का विचार करता था या ध्यान करता था? कायोत्सर्ग में था या गाली में था?

जिस चंडकौशिक सांप के कारण जगत् में त्राहि-त्राहि की करुण ध्वनि सुन पड़ती थी, जिसके भय से उसके आसपास का रास्ता वंद था और जिसकी दृष्टि में ही घोर विष भरा हुआ था, उसके सामने जाकर भगवान् महावीर ने कायोत्सर्ग किया था। उन्होंने अपने ज्ञान में देखकर सोचा—'व्यर्थ ही लोग उस साँप से डरते हैं। वह साँप तो व्युत्सर्ग सिखाता है।' ऐसा विचार कर भगवान् उसकी ओर चल दिये। कोई अनजान में उस मार्ग से न चला जाय, इस प्रयोजन के लिए दयालु लोगों ने कुछ आदमी नियुक्त कर दिये थे। वे उधर जाने वालों को इस-लिए रोक देते थे कि उस साँप के विप से बचना कठिन था।

जव भगवान् उस मार्ग से जाने लगे तो उन्होंने कहा—'इस मार्ग से न जाईए। इधर ऐसा भयानक साँप रहता है कि उसकी दृष्टि पड़ते ही विष चढ़ जाता है।'

प्रभु उनकी बात सुनकर मुस्किरा दिये। उन्होंने सोचा—ये लोग जैसा जानते हैं, कहते हैं। इन्हें साँप का ही विष दिखता है, अपने अन्तःकरण का विष दिखाई नहीं देता। लोग साँप से भयभीत होकर उसे मारने दौड़ते हैं, यह नहीं देखते कि हम में कितना भयंकर विष है। मैं व्युत्सर्ग द्वारा जगत् को दिखला दूँगा कि विष साँप में ही नहीं है, तुम में भी है। इसी कारण साँप का विष तुम पर असर करता है।

यह सोचकर भगवान् आगे बढ़े। रखवाले फिर कहने लगे-'आप कहां जा रहे हैं ? इधर का रास्ता साँप के कारण बन्द है। अगर आप नहीं मानेगें तो जीवित नहीं बचेगें।'

उनकी बात सुनकर भगवान् के सौम्य मुख पर फिर सहज स्मित की रेखाएँ खिंच गई। तब रखवालों ने कहा-'हँसते क्यों हैं ? अभी आपको हमारी बात पर विश्वास नहीं होता। साँप सामने आएगा तब पता चलेगा ! किसी मूर्ख ने भरमा कर आप को यहां भेजा होगा, लेकिन हम कहते हैं—लौट जाइए। आगे मत जाइए।'

भगवान् विचारने लगे—'यह लोग अभी भ्रम को बुरा समझते हैं, लेकिन यह नहीं जानते कि भ्रम क्या है ? यह सोचते हुए मुस्किराते हुए भगवान् और आगे बढ़े।

यह देखकर रास्ते के रखवालों को गुस्सा आगया। एक ने कहा-क्या सुनते नहीं हो ! क्यों हमें बदनाम करना चाहते हो ? लोग कहेगें-हमने रोका नहीं, इसलिए गये और मारे गये।

दूसरे ने कहा—'नहीं मानता तो जाने दो, मरने दो। जिसकी मौत आगई हो उसे कौन रोक सकता है ?

तीसरे ने कहा—यह न जाने कौन हैं ? इनकी आंखें तो देखो कैसी हैं ! हम लोग इतना कह रहे हैं, फिर भी मुस्किरा

रहे हैं। इनकी आंखों में क्रोध तो है ही नहीं। इन्हें नमस्कार कर लें और जाते ही हैं तो जाने दें।

क्रोध और प्रेम आंखों से स्पष्ट मालूम हो जाता है। आंखें तो क्रोध के समय भी वही और प्रेम के समय भी वही रहती हैं, मगर दोनों में कितना अन्तर हो जाता है! आंखें तेज से बनी हैं। आंखों का पूरा वर्णन सुन कर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि आंखे क्या हैं?

तीसरा आदमी कहता है—'इनकी आंखों से प्रकट है कि यह कोई शक्ति सम्पन्न महात्मा हैं। यह कोई महान् विभूति हैं। हम लोग सारा वृत्तान्त उन्हें बता दें और फिर वह जाना चाहें तो भले ही जाएँ। इन्हें किसी तरह का अपशब्द मत कहना।

चौथे ने भड़क कर कहा—'वाह! खूब कही! जाने दिया और सांप के काटने से मर गया तो बदनामी किसकी होगी?'

तीसरे ने शान्त भाव से कहा—इनसे हठ करना ठीक नहीं है। हमने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है। अब हठ करना हानिकर होगा।

यह लोग आपस में बात कह रहे थे कि भगवान् कुछ और आगे बढ़े। रखवाले भी कुतूहलवश भगवान् के पीछे हो लिये। उन्होंने सोचा–देखें यह क्या करते हैं? भगवान् स्थिर गति से

चलते-चलते सांप की बांबी पर आये। रखवाले सोचने लगे-हम लोग समझते थे, यह भूल से इधर आ गये हैं, मगर जान पड़ता है, यह तो यहां के लिये ही आये हैं।

तीसरा आदमी कहने लगा—मैं तो इनकी प्रेमपूर्ण परन्तु तेजस्वी आंखें देख कर ही समझ गया था। आंखें विना बताये ही बता देती हैं कि यह किस श्रेणी का पुरुष है! हृदय का भाव आंखों में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इनकी आंखें देखकर ही मैं समझ गया था कि यह कोई महान् पुरुष हैं।

भगवान् बांबी के मुँह पर ध्यान करके खड़े हो गये। सांप को जैसे ही किसी का आना मालूम हुआ कि वह क्रोध से उन्मत्त हुआ बाहर निकला। वह भगवान् की ओर बार-बार देखकर दृष्टि से विष छोड़ने लगा। मगर भगवान् का कुछ भी न बिगड़ा। वह ज्यों के त्यों अचल खड़े रहे। ध्यान पूरा होने पर भगवान् की ओर उसकी आंखें मिलीं। भगवान् की अमृत दृष्टि और चंडकौशिक की विष दृष्टि आपस में टकराई। वह सम्पूर्ण क्रोध के साथ अपनी आंखों से विष फैंकने लगा, मगर भगवान् पर जरा भी असर न हुआ।

भगवान् की दृष्टि में विष का लेश मात्र भी होता तो चंडकौशिक का विष भगवान् पर असर कर जाता। मगर भगवान् विष से सर्वथा विनिर्मुक्त थे। अतएव सर्प का विष प्रभावहीन

हो गया। वास्तव में हमारी दृष्टि में भी विष है और हमारी दृष्टि के विष से ही दूसरों का विष हम पर असर करता है।

चंडकौषिक सोचने लगा–आज तक कहीं मेरी दृष्टि नहीं रुकी। कभी मेरी शक्ति निष्फल नहीं हुई। मगर यह कौन जबर्दस्त आदमी है कि इस पर मेरी शक्ति व्यर्थ हो रही है। आज तक तो कोई मेरे सामने नहीं ठहर सका। जो आया वह यमपुर पहुँचा। लेकिन यह आदमी बड़ा ही विलक्षण है। न बोलता है, न टलता है। ऐसा सोचकर उसने भगवान् के उस अंगूठे पर डंक मारा, जिस अंगूठे से बचपन में–जन्म के कुछ ही समय बाद सुमेरु कांप उठा था। आज उसमें कितनी शक्ति होगी, यह अनुमान करना ही कठिन है। लेकिन आज तो भगवान् में और ही प्रकार का बल है।

चंडकौशिक ने भगवान् को काटा, तब भगवान् सोचने लगे--व्युत्सर्ग का फल तो चंडकौशिक ही बतलाता है। व्युत्सर्ग का मतलब शरीर का दान करना है। शरीर का इस प्रकार उत्सर्ग कर देना कि चाहे कोई उसे ले जाय, कोई उसे खाजाय, या कोई भी उसे नष्ट कर दे, ऐसा विचार करके शरीर का उत्सर्ग कर देना यही व्युत्सर्ग है। जिसमें पूर्ण व्युत्सर्ग होगा, वह इतनी ऊँची भावना रक्खेगा।

चंडकौशिक ने जब भगवान् को काट लिया, तो भगवान् के अंगूठे से खून निकला। पर वह दूध सरीखा था। चंडकौशिक

को वह अमृत की तरह मीठा लगा। वह सोचने लगा- मैंने बहुत बार खून का आस्वादन किया है, मगर यह खून तो कुछ और ही है।

भगवान् ने उसके सामने शरीर रखकर कहा--ले, मेरा शरीर ले। अब तू वैर मत रख। और किसी को दुख देकर स्वयं दुखी मत हो। अगर तुझे अपनी शक्ति आजमानी है और दुःख ही देना है तो ले, यह शरीर तेरे सामने है। शक्ति आजमा ले, दुख दे ले। इस प्रकार भगवान् ने जैसे जगत् का दुःख मिटाने के लिए ही अपना उत्सर्ग किया था। सिद्धान्त में कहा है—

खेयन्नए से कुसले महेसी।

भगवान् पराये दुःख को जानने वाले और उस दुःख की जड़ मिटाने वाले थे।

शुक्ल लेश्या के पुद्गल कैसे मीठे होते हैं, यह बात पन्नवणा सूत्र में बतलाई है। भगवान् महावीर की शुक्ल लेश्या उत्कृष्ट थी। वैसे तो तीर्थंकर होने के कारण उनके शरीर के पुद्गल विशिष्ट थे ही, मगर शुक्ल लेश्या के कारण और भी विशिष्ट थे। अतएव भगवान् के रक्त का स्वाद चंड कौशिक को विलक्षण ही लगा। उसने सोचा—यह मूर्ति तो परिचित जान पड़ती है। यह ध्यान भी परिचित जान पड़ता है। इस प्रकार ध्यान लगाते-लगाते उसे जाती स्मरण होते ही उसे ज्ञान हुआ कि मैं मुनि था और क्रोध करने के कारण साँप हुआ हूँ।

इतने में भगवान् का व्युत्सर्ग पूरा हुआ। उन्होंने चंड-कौशिक से कहा—'समझ, चंड कौशिक! समझ! तेरा और मेरा आत्मा समान है। अब तो बोध प्राप्त कर।'

चंडकौशिक, भगवान् की यह वाणी सुनकर सोचने लगा—'यह तो भगवान् हैं। मैंने यह शरीर क्या खाया नरक खाया, नरक खाया है। इस शरीर से मैंने बहुत पाप किया है। औरों की तो बात क्या, त्रिलोकीनाथ भगवान् को भी मैंने नहीं छोड़ा!' ऐसा विचार कर चंडकौशिक ने अठारह पापों का त्याग कर दिया। उसने सोचा—मैंने पापों का त्याग कर दिया, मगर मेरी दृष्टि में विष है। जिस पर मेरी दृष्टि पड़ेगी, वह मारा जायगा।'

चंडकौशिक ने किसी को पीड़ा न पहुँचे, इस अभिप्राय से बांबी में अपना सिर घुसेड़ लिया। सोचा—भगवान् ने यहां आकर व्युत्सर्ग किया, उसी तरह मैं भी व्युत्सर्ग करता हूँ। मैं भी अपना शरीर त्यागता हूँ। अब इस शरीर को कोई भी खा जावे, कोई भी ले जावे। मुझे इससे कोई सरोकार नहीं।

भगवान् के पीछे जो रखवाले आये थे, वह आपस में कहने लगे—सांप आया तो था, मगर इस महात्मा का तो कुछ भी नहीं बिगड़ा! वे लोग पत्थर फैंक कर देखने लगे सांप जीवित है या मर गया है! लेकिन सांप हिलता डुलता नहीं था। उन लोगों ने मशहूर कर दिया--सांप शान्त हो गया है!

लोगों में यह बात प्रसिद्ध हो गई कि साँप शान्त हो गया। दुखदायी शक्ति जब शान्त हो जाती है तो लोग उसकी पूजा करते हैं। इस परम्परागत प्रथा के अनुसार जनता दूध, दही से साँप की पूजा करने लगी। मगर अब पूजना और मारना उसके लिए समान था। दूध, दही आदि लगने के कारण उसके शरीर को चीटियाँ लग गई। साँप को वेदना हो रही थी। तब उसने सोचा—मैंने अनेकों को और त्रिलोकीनाथ भगवान् को भी कष्ट पहुँचाया है। चीटियाँ मेरे पाप को हल्का कर रही हैं।

इस प्रकार शान्ति रखने से भगवान् में जो लेश्या थी, वही लेश्या उसकी भी हो गई। जीव जिस गति में जाने को होता है, उसी के अनुकूल लेश्या उसकी हो जाती है। चंडकौशिक को शुक्ल लेश्या प्राप्त हो गई। ज्यों-ज्यों वेदना बढ़ती जाती थी, उसका ध्यान भी बढ़ता जाता था। उसने क्रोध नहीं किया। उसका पाप धुलने लगा। वह धैर्य के साथ कष्ट सहता रहा। उसे चीटियों ने काट-काट कर खोखला बना दिया। अन्त में शरीर त्याग कर वह स्वर्ग पहुँचा।

हम लोग न भगवान् के समान हैं, न चंडकौशिक के ही समान-हैं—बीच के हैं। फिर भी साँप से ऊँची श्रेणी के हैं। मगर यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने कर्त्तव्य से कहीं साँप न बन जाएँ! साँप ने कीड़ियों का काटना सहन किया था।

क्या हम किसी का बोल भी नहीं सहन कर सकते ! अगर नहीं तो व्युत्सर्ग क्या होगा !

यह व्युत्सर्ग का प्रताप है। व्युत्सर्ग तप का पोषण करता है। व्युत्सर्ग से शरीर में और शरीर द्वारा आत्मा में स्थिरता उत्पन्न होती है।

व्युत्सर्ग दो प्रकार का है--द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के भी चार भेद हैं। व्युत्सर्ग का अर्थ प्रत्येक वस्तु का त्याग है। इस उपदेश का पहला पात्र मुनि ही है, क्योंकि मुनि इसीलिए तैयार हुए हैं--इसी के लिए उन्होंने घर छोड़ा है।

द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेदों में पहला भेद शरीर का व्युत्सर्ग है। शरीर के व्युत्सर्ग करने का मतलब शरीर का घात करना नहीं है, किन्तु शरीर को साधन मात्र मानना और इससे ममत्व त्याग देना शरीर व्युत्सर्ग है। जैसे-आप चाकू आदि हथियार अपने पास रखते हैं, लेकिन अपनी हानि करने के लिए नहीं वरन् उनसे काम लेने के लिए रखते हैं। यानी उन्हें अपने काम का साधन मात्र मानते हैं। उनसे अपनी हानि नहीं करते। इसी प्रकार शरीर को भी साधन मात्र समझना व्युत्सर्ग है। चाकू से कलम को निकाल सकते हैं और आत्म हत्या भी कर सकते हैं। इसी प्रकार शरीर से भी दोनों काम हो सकते हैं शरीर की सहायता से अच्छे काम भी किये जा सकते हैं और बुरे काम

भी किये जा सकते हैं। मगर बुरे कामों में न लगाकर अच्छे काम में लगाना शरीर का व्युत्सर्ग है। पूर्ण व्युत्सर्ग की सिद्धी चौहदवें गुणस्थान में होती है, लेकिन अभ्यास तो करते ही रहना चाहिए।

द्रव्य व्युत्सर्ग का दूसरा भेद गण व्युत्सर्ग है। गण का अर्थ गच्छ है। जब पूर्ण दशा प्राप्त हो जाय, आठ गुण प्रकट हो जाएँ, तब गच्छ का त्याग कर देना चाहिए। गच्छ में रहने पर अनेक प्रवृत्ति-निवृत्ति के काम करने पड़ते हैं। जिसमें सारणा वारणा और धारणा हो वही गच्छ कहलाता है। जिसमें यह न हों वह अगच्छ है। लेकिन ऐसा करने में कई प्रकार की खटपट होती है। इसीलिए आठ गुण प्रकट हो जाने पर गच्छ भी त्याग देना चाहिए, जिससे किसी से कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता न हो और पूर्ण एकान्त एवं शान्ति प्राप्त की जा सके।

मगर इस प्रकार के गुण न होने पर भी गच्छ को त्यागना उच्छृंखलता है। त्याग की भी मर्यादा होती है। आठ गुण प्रकट हुए बिना गच्छ को त्यागना सवर्था अनुचित है, फिर भले ही कोई त्याग के नाम पर ही ऐसा क्यों न करे। शास्त्र में तो आहार-पानी और शरीर के त्याग का भी विधान है। इनका त्याग तो न करे, मगर गच्छ का त्याग कर दे तो यह कैसे ठीक कहा जा सकता है? मतलब यह है कि जब आठ गुण प्रकट हो जाएँ और

जब भोजन तथा शरीर भी त्यागने की क्षमता प्राप्त हो जाय, तब गच्छ भी त्यागा जा सकता है। इसी से पहले त्याग करना उचित नहीं है।

द्रव्य व्युत्सर्ग का तीसरा भेद उपधि व्युत्सर्ग है। जब काम हो गया तो उसके लिए उपकरण रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। नदी पार करने के लिए नौका या तूँबा का सहारा लिया जाता है। नदी पार कर लेने के पश्चात् भी कोई नौका से चिपटा रहे तो वह मूर्ख गिना जायगा। इसी प्रकार संयम की रक्षा के लिए उपधि आवश्यक है। यह कार्य सध जाने पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

द्रव्य व्युत्सर्ग का चौथा भेद भी भक्तपान व्युत्सर्ग है। जब जीवन की आशा और मृत्यु का भय न रह जाय, तब भोजन-पानी का भी व्युत्सर्ग कर दिया जाय। उस समय में इनकी भी आवश्यकता न समझे।

भाव व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है—(१) कषाय व्युत्सर्ग (२) संस्कर व्युत्सर्ग और (३) कर्म व्युत्सर्ग। इनमें से कषाय व्युत्सर्ग के चार भेद हैं—क्रोध व्युत्सर्ग, मान व्युत्सर्ग, माया व्युत्सर्ग और लोभ व्युत्सर्ग। अर्थात् क्रोध आदि चारों का त्याग करना कषाय व्युत्सर्ग है।

मुक्ति का साक्षात् कारण तो भावव्युत्सर्ग ही है, मगर भावव्युत्सर्ग के लिए द्रव्यव्युत्सर्ग आवश्यक है । इसलिए पहले द्रव्यव्युत्सर्ग करना चाहिए । संसार के प्रति आसक्ति होने से ही क्रोध, मान, माया, लोभ होता है । संसार की आसक्ति छूटने से यह छूटते हैं और इनके छूटने पर द्रव्यव्युत्सर्ग होता है, और द्रव्यव्युत्सर्ग होने पर ही भावव्युत्सर्ग होता है । अगर कोई आदमी द्रव्यव्युत्सर्ग करे परन्तु भावव्युतसर्ग न करे तो निज आत्मा की सिद्धि नहीं होती, यह दिवाले का सा व्यापार है । धन की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए व्यापार करने वाला अगर ध्यान न रक्खे तो उसका दिवाला ही निकलेगा । कुशल व्यापारी वही माना जायगा जो अपनी पूंजी से धन बढ़ाएगा । इसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ के व्युत्सर्ग के लिए ही द्रव्यव्युत्सर्ग है । और गच्छ एवं उपधि और भोजन-पानी आदि का व्युत्सर्ग भावव्युत्सर्ग के लिए है । द्रव्यव्यत्सर्ग हुआ लेकिन भावव्युत्सर्ग न हुआ तो यह बिना लाभ का व्यापार करना है ।

संसार व्युत्सर्ग के चार भेद हैं । नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति का व्युत्सर्ग करना ही संसार व्युत्सर्ग है । यों तो नरकगति में कोई जाना नहीं चाहता, मगर यही नरकगति व्युतसर्ग नहीं कहा जा सकता । नरक में जाने के जो कारण हैं, उन कारणों से बचना नरकगति व्युत्सर्ग है । जेल जाने का त्याग करना

तो ठीक है, मगर जिन चोरी आदि अपराधों के कारण जेल जाना पड़ता है, उनका त्याग करने पर ही जेल जाने का त्याग करना कहला सकता है। जिसने इन अपराधों का त्याग नहीं किया, उसका सच्चा त्याग नहीं है। इसी प्रकार नरकगति के कारणों का त्याग करने पर ही नरकगति का त्याग हो सकता है। ऐसा करने वाले के लिए नरक का द्वार बंद हो जाता है। मगर नरकके योग्य कामों का त्याग किये बिना नरकगति का व्युत्सर्ग कैसे हो सकता है ? अतएव नरकगति का व्युत्सर्ग करने वालों को उसके कारणों का व्युत्सर्ग करना चाहिए।

नरक की तरह स्वर्ग का भी व्युत्सर्ग करना चाहिए। आप स्वर्ग प्राप्त करना चाहते होंगे, मगर ज्ञानी जनों का कथन है कि स्वर्ग का भी व्युत्सर्ग करो। स्वर्ग अच्छा तो लगता है पर आयु समाप्त होने पर जब जीव वहाँ से गिरता है, तब बहुत नीचे तक भी चला जाता है। कहावत है:-

चढ़ उतंग वहाँ से पतन, शिखर नहीं वह कूप।
जिस सुख अन्दर दुख बसे, वह सुख भी दुख रूप ॥

जो बांस पर चढ़ कर नीचे गिरता है, उसके लिए जमीन ही कुआं बन जाती है। इसी कारण ज्ञानी कहते हैं-स्वर्ग की भी अभिलाषा मत करो। स्वर्ग का भी व्युत्सर्ग कर दो। स्वर्ग

की कामना से तप आदि न करके संसार के व्युतसर्ग की भावना से करो। संसार का व्युत्सर्ग करना जन्म-मरण का व्युत्सर्ग करना है यानी मोक्ष जाना है। इसलिए मोक्ष की ही कामना से तप आदि करना चाहिए, संसार की कामना से नहीं।

कर्म का व्युत्सर्ग करना चाहिए। असातावेदनीय आदि की तरह सातावेदनीय आदि भी त्याज्य हैं।

जो जिस प्रकार का व्युत्सर्ग करेगा, उसे उसी प्रकार का फल प्राप्त होगा। शरीर के व्युत्सर्ग से शरीर के व्युत्सर्ग का फल होगा गच्छ के व्युत्सर्ग से गच्छ के व्युत्सर्ग का फल होगा। अगर उपधि या भोजन-पान का व्युत्सर्ग किया जाय तो वैसा फल प्राप्त होगा। शरीर के व्युत्सर्ग से शरीर द्वारा होने वाले संग का व्युत्सर्ग हो जाता है, शरीर संबंधी ममता-मूर्च्छा मिट जाती है गच्छ का व्युत्सर्ग करने से गच्छ संबंधी ममता हटती है। भक्त-पान के व्युत्सर्ग से भोजन-पानी संबंधी और उपधि त्यागने से उपधि संबंधी ममता मिट जाती है भाव व्युत्सर्ग करने से आत्मा निःसंग होता है। मान का व्युत्सर्ग करने से मान का असंग होना और माया का व्युत्सर्ग करने से माया का असंग होगा। इसी प्रकार क्रोध और लोभ का व्युत्सर्ग करने से क्रोध और लोभ का असंग होता है। चार प्रकार के संसार का व्युत्सर्ग करने से संसार का असंग होता है इन सब

का त्याग करने पर केवल मोक्ष ही बच रहता है। कर्म का व्युत्सर्ग करने पर कर्म का असंग होगा। कर्मों को आत्मा ने ही ठहरा रक्खा है। अगर आत्मा न ठहरावे-तो वे ठहर ही नहीं सकते। कर्म का उत्सर्ग करने पर कर्म से असंग हो जाता है और कर्म से असंग होने पर आत्मा के लिए मोक्ष ही बच जाता है।

स्थविर भगवान् ने कहा था कि आत्मा ही व्युत्सर्ग है और आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है। किसी भी तरह से विचार करो, व्युत्सर्ग आत्मा के लिए ही सिद्ध होगा। व्युत्सर्ग करने वाला भी आत्मा ही है। जिसे शरीर प्राप्त है, वही व्युत्सर्ग कर सकता है, विशेषतः शरीर का व्युत्सर्ग तो शरीर के बिना हो ही नहीं सकता। इससे यह बात स्पष्ट है कि शरीर अलग है और व्युत्सर्ग करने वाला अलग है। इसलिए शरीर का व्युत्सर्ग करने वाला (अर्थात् आत्मा) ही व्युत्सर्ग है। भोजन, उपाधि, गच्छ आदि का व्युत्सर्ग आत्मा ही करता है, इसलिए आत्मा को देखो। जो कुछ भी करो, आत्मा के लिए करो।

बहुत से लोग आत्मा के लिए व्युत्सर्ग न करके पुद्गल के लिए करते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि आत्मा में शक्ति होगी तो पुद्गल आप ही आ जुटेंगे, और आत्मा की शक्ति के अभाव में, केवल चाहने मात्र से कदापि नहीं आ सकते।

शक्ति होने पर गले में वरमाला आ ही पड़ती है। कृष्ण ने रुक्मिणी से कब कहा था कि मेरे साथ विवाह कर लो। कृष्ण ने अपना पराक्रम दिखलाया तो रुक्मिणी मिल ही गई। राम ने सीता से वरमाला डालने की प्रार्थना नहीं की थी। पराक्रम से उन्हें सीता मिली।

इसी प्रकार आत्मा जब पराक्रम करेगा तो उसे किसी प्रकार की कमी नहीं रहेगी। पराक्रम करने पर संसार के सब अच्छे पदार्थ आत्मा के सन्मुख आ जाएँगे। अतएव कामनाओं को जीत कर आत्मा के लिए पराक्रम करो तो कल्याण के भागी बनोगे।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि के छहों प्रश्नों की व्याख्या हो गई। इस विषय में और भी तर्क-वितर्क किये जा सकते हैं। मगर उन सब का सार यही है कि आप शरीर आदि को देखते हैं, मगर उनके स्वामी आत्मा को नहीं देखते। आत्मा को देखे बिना व्युत्सर्ग निष्फल है। शास्त्र में कहा है कि श्रमण निर्ग्रन्थ का एक वचन सुनते ही सुबाहुकुमार की जैसी ऋद्धि प्राप्त होती है, तो पूरी तरह सुनकर धारण करने से कैसी ऋद्धि मिलेगी? आप पूरी तरह सुनकर धारण करो।

बहुत-से लोग समझते हैं कि बकरा या भैंसा चढ़ाये बिना देवी की पूजा नहीं हो सकती। यह गनीमत है कि आज कल बकरों और भैंसों की ही बलि चढ़ाई जाती है, पहले तो कन्या

वलि और नर बलि भी दी जाती थी। भोले लोगों में यह भ्रम फैला हुआ है कि बकरों और भैंसों की बलि के विना देवी प्रसन्न नहीं होती, न उसकी पूजा ही होसकती है। भोले लोग शास्त्र की बात नहीं समझते, इसलिए जानते हैं कि देवी के लिए बकरा भैंसा चढ़ाना चाहिए। मगर यह देखना चाहिए कि इस विषय में शास्त्र क्या कहता है?

शास्त्र में कहा हुआ व्युत्सर्ग बलिदान ही है। शब्द अलग-अलग हैं, पर अर्थ में अन्तर नहीं है बलिदान शब्द हिंसा के अर्थ में इतना अधिक प्रचलित होगया है कि उसके लिए व्युत्सर्ग शब्द का प्रयोग करना अटपटा और असंगत जान पड़ता है, फिर भी लोकरूढ़ि को एक किनोर रखकर दोनों के मूल और असली अर्थ पर गंभीरता से विचार किया जाय तो दोनों की एकार्थकता पर जरा भी आश्चर्य न होगा।

बलिदान का वास्तविक अर्थ इष्ट वस्तु का दान कर देना है और व्युत्सर्ग का अर्थ भी यही है। मगर बलिदान शब्द आज कल गलत अर्थ में व्यवहृत होता है। इसके अर्थ में हिंसा घुसेड़ दी गई है। इसलिए जैन शास्त्र में बलिदान शब्द का उपयोग नहीं देखा जाता। पर दोनों शब्दों का मूल भाव-अर्थ एक ही है। बालिदान करने वाले लोग बलिदान शब्द के अर्थ में हिंसा का संबंध जोड़ते हैं, लेकिन देवी भागवत आदि में बालिदान

शब्द का क्या अर्थ बतलाया है, यह बात संक्षेप में यहाँ बतलाई जाती है।

दुर्गा कहिए, भवानी कहिए या शक्ति कहिए, आखिर यह सब जगत् की माता मानी जाती हैं। जब सारे जगत् की माता हैं तो क्या बकरों और भैंसों की माता नहीं हैं? यदि हैं तो क्या वे अपने बेटों को मरवाना और खाना पसंद कर सकती हैं? अगर कहो कि वे दुष्ट और राक्षस का संहार करती हैं तो मरने वाला दुष्ट है या मारने वाला? बकरा मारा जाता है और वही दुष्ट ठहराया जाता है, यह कहाँ का न्याय है? दुष्ट तो मारने वाला ही है। लोग इस सीधी-सी बात का विचार न करके, लालसा के वश होकर अपने खाने की भावना के अनुसार देव गढ़ लेते हैं। राजस प्रकृति वालों ने राजस देव बना लिये हैं, और तामस प्रकृति वालों ने तामस स्वभाव के देवों की सृष्टि करली है। मगर ज्ञानी कहते हैं कि इन दोनों प्रकृतियों से निकल कर सात्विक प्रकृति में आओ।

महाकाल संहिता में कहा है:—

सात्विको जीवहत्यां कदापि न समाचरेत्।

अर्थात्—सात्विक प्रकृति वाला कदापि जीवों की हत्या नहीं करेगा।

यहां स्पष्ट शब्दों में जीवहत्या का निषेध किया है। अगर जीवहत्या विधेय होती तो बड़े लोग अधिक जीवहत्या करते।

महानिर्वाणतन्त्र में कहा है कि काम और क्रोध–दो पशु हैं। यह दोनों अज्ञान से हैं। इसलिए अज्ञान ही असली पशु है। इन पशुओं को देवी के अर्पण करना चाहिये।

मगर पूजा करने वाले से काम और क्रोध नहीं छूटा, इसलिए देवी को भी वैसा ही रंग दे दिया है।

ग्रन्थों में चार प्रकार की वलि वतलाई है। उत्तम वलि वह है जिसमें आत्मा का वलिदान कर दिया जाता है। जिस तरह शास्त्रों में संसार का व्युत्सर्ग करने के लिए कहा है, ऐसे ही संसार के पदार्थों पर जो ममता है, उसे काट–काट कर हटा देना और भेदभाव से निकल कर अभेद में जाना यह श्रेष्ठ वलिदान है। दूसरा वलिदान उससे कुछ घटिया है। जैसे—'दासोऽहम्' अर्थात् मैं दास हूँ, ऐसा साधना की प्रारंभिक अवस्था में कहा जाता है। इस वाक्य में से 'दा' निकाल देने पर 'सोऽहम्' रह जाता है। इसका अर्थ है—'जो परमात्मा है वही मैं हूँ।' लेकिन 'दासोऽहम्' 'सोऽहम्' वनने के लिए है न कि 'दासोऽहम्' वने रहने के लिए। 'दासोऽहम्' में से 'दा' निकालने के लिए ही 'दासोऽहम्' है, न कि 'सोऽहम्' निकाल देने के लिए। इसी तरह काम-क्रोध बढ़ाने के लिए बलिदान नहीं है, किन्तु काम-क्रोध को काटना ही सच्चा बलिदान है।

सच्चा संत ही बलिदान का सच्चा ज्ञान करा सकता है।

मांस-मदिरा खाने-पीने वाले लोग मांस-मदिरा का सेवन करना ही बलिदान का अर्थ बताएँगे।

उससे निम्न कोटि का बलिदान यह है कि सम्पूर्ण काम, क्रोध का बलिदान न होसके तो जिन पदार्थों पर अधिक ममत्व दौड़ता है, उन्हें जितना संभव हो, त्यागना। लालसा, मोह, ममत्व बढ़ाने वाली चीज़ों का, जितना बन सके उतना त्याग करना, यह तीसरे दर्जे का बलिदान है।

जैन शास्त्रों में यह तीनों ही बलिदान बताये हैं। कोई संथारा लेकर प्रथम श्रेणी का बलिदान करता है, कोई साधु होता है और कोई देश विरत श्रावक होता है। अगर कोई साधु या श्रावक भी नहीं हो सकता तो भी वह कुछ न कुछ त्यागता ही है। यह चौथे दर्जे का बलिदान है, जिसे हम सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं। मिथ्यात्व को त्यागना और पदार्थ के असली स्वरूप को जानना यह भी साधारण बात नहीं है।

इस प्रकार चार तरह का बलिदान बताया है। सब का सारांश यही है कि त्याग करो। त्याग करके तुम जो बलिदान करोगे, उससे तुम्हें सुख और जगत् को शान्ति मिलेगी।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने जो प्रश्न किये थे, उनका स्थविर भगवान् ने उत्तर दिया। इन छह प्रश्नोतरों में यह कहा गया है कि सामायिक आदि गुणों को गुणी से अभिन्न मान लो तो

इन सब का अर्थ आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं निकलेगा। इसलिए आत्मा को पहचानो।

अब मुनि इसी विषय में तर्क करते हैं। वे कहते हैं- स्थविर ! तुमने सामायिक आदि को और उन सब के अर्थ को आत्मा बताया है, लेकिन आत्मा ही अगर सामायिक आदि है और सामायिक आदि के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ छोड़ना चाहिए तो फिर 'निंदामि, गरिहामि, पडिक्कमामि' क्यों कहते हो ? आत्मा ही सामायिक है तो निन्दा करने की क्या आवश्यकता है ? निन्दा करना पाप है, यह बात प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में निन्दा करना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

निन्दा करना पाप है, पर यहां किसी और ही आशय से निन्दा करना कहा गया है। किस आशय को लेकर प्रतिक्रमण में निन्दा की जाती है, यह बात स्थविर भगवान् बतलाते हैं।

कालास्यावेषिपुत्र अनगार के प्रश्न के उत्तर में स्थविर भगवान् ने कहा-'हे आर्य ! हम संयम के लिए निन्दा-गर्हा करते हैं।'

मुनि फिर तर्क किया-'जब क्रोध, मान, माया, लोभ त्याग दिया, तब संयम के लिए निन्दा-गर्हा की, तो गर्हा करना संयम है या गर्हा न करना संयम है ?'

इसके उत्तर में स्थविर भगवान् कहते हैं–'आर्य ! गर्हा करना संयम है, गर्हा न करना संयम नहीं है।'

यहां निन्दा करना संयम और निन्दा न करना असंयम कहा है। लेकिन यह बात किसी दूसरे अर्थ को लेकर कही है। मुनि ने पूछा था–'हे आर्य ! क्रोध आदि का त्याग कर के भी निन्दा करना कैसे ठीक कहा जा सकता है ? जो क्रोध आदि चारों को त्याग देगा, वह निन्दा किस प्रकार कर सकता है ? यदि आत्मनिन्दा करना ठीक माना जाय तो जब आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही (यावत्) व्युत्सर्ग है तो आत्म-निन्दा का अर्थ सामायिक आदि की निन्दा करना ठहरेगा। क्या ऐसा मानना उचित है ?'

स्थविर भगवान ने उत्तर दिया–आर्य ! जबतक निन्दा-गर्हा न हो तबतक सब दोष दूर नहीं हो सकते। केवल निन्दा ही ऐसी वस्तु है, जो आत्मा को सब दोषों से मुक्त कर देती है। निन्दा से ही आत्मा के दोष दूर होते हैं। निन्दा के अभाव में आत्मा दूषित ही रह जायगा। अज्ञान और दोष आत्मा की मलीनता के कारण हैं। जबतक सच्चे अन्तःकरण से इनकी निन्दा न की जाय तबतक आत्मा इनसे मुक्त नहीं हो सकता।

स्थविर भगवान् कहते हैं—आर्य ! आप कहते हैं कि जब क्रोध आदि त्याग दिये तो उनकी निन्दा क्यों करते हो ? लेकिन

जिन्हें त्यागा है, उन्हीं की निन्दा करना ठीक है। जिन्हें त्यागा नहीं है, उनकी निन्दा करना वृथा है। क्रोध, मान, माया और लोभ आदि पाप बुरे हैं। इन पापों का त्याग किया है। जिन्हें बुरा समझ कर त्यागा है, उनकी निन्दा न करता रहे तो वे पाप फिर कभी घुस आएँगे।

किसी पुरुषने व्यभिचार को पाप समझकर परस्त्री का त्याग कर दिया। परस्त्री त्यागने के बाद जब तक उसके हृदय में पर नारी की निन्दा रहेगी, तब तक पर नारी सेवन का पाप उसमें नहीं घुसेगा। अगर परस्त्री सेवन को उसने निन्दनीय न माना तो कभी न कभी परस्त्री-सेवन का पाप घुस ही आएगा।

इस प्रकार पापों की निन्दा करते रहने से पाप नहीं घुस सकेंगे और निन्दा न करने से पापों का घुसना संभव है। अतएव त्यागे हुए पापों की निन्दा करना कोई बुराई नहीं है, बल्कि निन्दा करने में ही भलाई है।

किसी ने बुरा समझ कर मांस-मदिरा त्याग दिया। जब तक वह मांस-मदिरा का सेवन बुरा समझता रहेगा तब तक उसका त्याग निर्मल रहेगा और वह इनसे बचता रहेगा। लेकिन एक बार भी कभी हृदय में यह भाव आगया कि मांस खाना बुरा नहीं है, तो फिर भले ही वह ऊपर से उसका सेवन न करे, मगर उसके हृदय में तो मांस खाने की बात आही गई। और

पूरा त्याग तभी तक है, जब तक कि त्यागी हुई चीज के सेवन की बात मन में भी न आवे।

निन्दा करना पाप है, मगर कहीं धर्म भी है। बुरे काम की निन्दा करना धर्म है। उसकी निन्दा न करने से बुरे काम से घृणा मिट जाती है। घृणा मिटने से आचरण करने में संकोच नहीं होता। अच्छे काम के संस्कार तबतक ही रहते हैं, जबतक बुरे काम से घृणा है। बुरे काम की निन्दा न होने से अच्छे संस्कार मिट जाते हैं।

पाप के साथ अनुमति रखना अर्थात् बुरे काम का अनुमोदन करना भी पाप है। पाप को भला जानना भी पाप है। मन, वचन, काय से पाप करना, कराना और अनुमोदन पाप है। जबतक पाप के प्रति घृणा न होगी, तबतक अनुमोदन का पाप नहीं मिटेगा। अनुमोदन तभी मिटेगा जब पाप से घृणा होगी।

पाप की निन्दा करने से पाप नहीं होते, लेकिन निन्दा का फल क्या है? इसके उत्तर में स्थविर भगवान ने कहा है-निन्दा करने से संयम होता है।

लोग अपने घर के किवाड़ भी लगाते हैं और कीमती चीजें तिजोरी में रखकर उसमें ताला भी लगाते हैं। तिजोरी से चीज की रक्षा होती है और घर में ताला लगाने से तिजोरी

की रक्षा होती है। इसी प्रकार आत्मा में गुणरूपी जो रत्न हैं, इन्हें बचाने के लिए–पापरूपी चोर आत्मारूपी तिजोरी को हाथ न लगा सके इसलिए, पाप की निन्दा करना आवश्यक है।

निन्दा करने से पाप नहीं लगता, इतना ही नहीं किन्तु संयम भी निपजता है। सदाचार तभी तक रहेगा, जबतक दुराचार की निन्दा है। दुराचार की निन्दा न रहने पर सदाचार भी न रह सकेगा। दुराचारी की नहीं, वरन् दुराचार की बराबर निन्दा करते रहना चाहिए। गच्छ में संयम की ढिलाई हो तो उस ढिलाई की निन्दा करनी चाहिए और संयम की दृढ़ता हो तो दृढ़ता की प्रशंसा करनी चाहिए। किसी भी समय ढिलाई की प्रशंसा करना उचित नहीं है।

अनुयोगद्वारसूत्र में एक उदाहरण आया है। एक आचार्य, एक साधु की प्रशंसा किया करते थे। दूसरे आचार्य को उस साधु के दुराचार का हाल मालूम था। उन्होंने प्रशंसा करने वाले आचार्य से कहा–आप यह क्या कर रहे हैं ! आपका यह कार्य वैसा ही हानिकारक है, जैसा कि एक दृष्टान्त में बतलाया गया है। दृष्टान्त यों है—

एक अग्निपूजक ब्राह्मण था। वह सालभर कमाता और फिर झौंपड़े में घी आदि सामान भरकर उसमें आग लगा देता। राजा उस की प्रशंसा करने लगा–यह ब्राह्मण बड़ा ही निष्ठावान्

है। प्रधान ने राजा से कहा—आप उसकी प्रशंसा न करें। यह प्रशंसा किसी दिन सारे नगर को ले बैठेगी। अगर ब्राह्मण को पूजा करनी है तो उसे नगर के बाहर करनी चाहिए। नगर में एक घर में आग लगने से किसी समय सारे नगर में आग फैल जायगी और नगर भस्म हो जायगा। आप उसकी प्रशंसा करते हैं, मगर इस प्रशंसा से नगर की हानि होगी। और लोग भी इसी प्रकार पूजा करना सीखेंगे।

यह उदाहरण देकर दूसरे आचार्य ने पहले आचार्य से कहा—आप उसकी प्रशंसा करते हैं मगर यह प्रशंसा कभी संघ को हानि पहुँचाए बिना नहीं रहेगी; यह बात बिलकुल निश्चित है।

तब प्रशंसा करने वाले आचार्य ने कहा—'यह अत्यन्त भावपूर्वक प्रतिक्रमण करता है। इसी से इसकी प्रशंसा करता हूँ।'

दूसरे आचार्य ने कहा—'आवश्यक की भी विधि है। उस विधि के न होने पर भी तथा अर्थ न जान कर आवश्यक करने वाले की आप प्रशंसा करें, यह आग की प्रशंसा करने के समान है। इससे दूसरे साधुओं पर यह प्रभाव पड़ेगा कि चाहे कैसा भी आचरण किया जाय, अगर प्रतिक्रमण कर लिया तो बस फिर कोई हानि नहीं। इसलिए उस साधु से जाकर कह

दीजिए जो कुछ करना हो, गच्छ से बहार जाकर करो। गच्छ में रहते हुए ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है।' प्रशंसा करने वाले आचार्य समझ गये कि वास्तव में इनका कहना ठीक है।

मतलब यह है कि गर्हा करने से संयम की प्राप्ति होती है। पाप की प्रशंसा करने से पाप की वृद्धि होती है और निन्दा करने से कमी होती है। मान लिजीए, एक कुटुम्ब में कई भाई शामिल रहते हैं। उस कुटुम्ब का एक नायक है। उस कुटुम्ब की एक स्त्री अच्छा भोजन बनाती है और सब को अच्छी तरह परोसती भी है, लेकिन उसका आचरण खराब है। उसकी रसोई देखकर कुटुम्ब का नायक उसकी प्रशंसा करने लगा। तब बड़े बेटे ने कहा—आप इसकी प्रशंसा करते हैं, पर यह प्रशंसा कुल को ले डूबेगी। इसके आचरण की निन्दा करनी चाहिए। अन्यथा कुल की सब स्त्रियाँ यही समझेंगी कि कुछ भी करो मगर भोजन अच्छा बनाकर परोस दो। फिर कोई बुराई की बात नहीं। इस प्रकार की भावना फैल जाने से कुल डूब जायगा। कुल में दुराचार फैल जायगा। वह भोजन अच्छा बनाती है तो उससे कहिए—तू भोजन तो अच्छा बनाती है, लेकिन तेरा आचरण अच्छा नहीं है। आचरण सुधारे बिना तू प्रशंसा के योग्य नहीं बन सकती।

गच्छ भी परिवार के समान है। इसमें रहने वाले के बुरे आचरण की निन्दा करना ठीक है। अगर भले-भले आदमी भी

बुरा आचरण करने वाले की प्रशंसा करने करने लगेंगे तो गच्छ ही डूब जायगा।

आज साधुओं में जो शिथिलता आ गई है, उसका कारण उनके साधुत्व को न देखकर केवल उनके व्याख्यान या उनकी विद्वता देखकर प्रशंसा के पुल बाँध देना ही है। कई साधु, साधुपन का ठीक तरह पालन नहीं करते और आप उनकी पंडिताई देखकर प्रशंसा करने लगते हैं। यह देखकर दूसरे साधु भी यही समझेंगे कि साधुपन पालो या न पालो, कुछ भी करो, मगर बढ़िया व्याख्यान देना सीख लो, फिर कोई हानि नहीं। फिर कोई कुछ कहने वाला नहीं। अतएव किसी भी साधु की प्रशंसा करने से पहले उसके आचार-विचार की परीक्षा कर लेना चाहिए। काशी में पढ़े पंडित तो बहुत हैं, मगर आप उनके पैर नहीं छूते। आप साधुओं के पैर छूते हैं, क्योंकि उनमें महाव्रत हैं। महाव्रतों के साथ पाण्डित्य का गुण हो तो अच्छी बात है, मगर साधुपन पहले होना जरूरी है। साधु उत्कृष्ट ज्ञान वाला भी होता है और केवल पाँच समिति एवं तीन गुप्ति को जानने वाला भी होता है। सिर्फ समिति-गुप्ति का जानकार मगर साधुत्व का भलिभाँति पालन करने वाला साधु इन्द्र का भी पूज्य होता है। इन्द्र भी उसे वन्दना करता है। सारांश यह है कि गुणों की प्रशंसा करने के समान दोषों की निन्दा करना भी आवश्यक है।

आप जब सामायिक लेते हैं, तब यह पाठ बोलते हैं—

'निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।'

यहाँ निन्दा और गर्हा—दोनों का कथन है। स्वयं की साक्षी से निन्दा करना निन्दा है और गुरु की साक्षी से निन्दा करना गर्हा कहलाता है। बहुत-से लोग अपने मन में तो कहते होंगे कि मेरे जैसा पापी दूसरा नहीं है; मैंने अमुक-अमुक पाप किये हैं, पर यही बात गुरु आदि के सामने कहना कठिन मालूम होता है। अपने दोषों को प्रकट करना कठिन हो जाता है। मगर दूसरे के सामने अपने दोषों को प्रकट किये बिना, स्वयं मन में निन्दा करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसीलिए यहाँ निन्दा को गौण करके गर्हा को प्रधानता दी गई है। जैसे बालक कोई दर्द होने पर उसे छिपाता नहीं है, किन्तु अपने माता-पिता के सामने स्पष्ट कह देता है, उसी प्रकार अपने दोष गुरु के समक्ष निवेदन कर देना चाहिए। मगर प्रायः देखा जाता है कि जैसे संसार में चालबाजी की जाती है, उसी प्रकार दोष-प्रकाशन में भी चालबाजी से काम लिया जाता है। ऐसा करना सामायिक नहीं है। गुरु के सामने तो हृदय खोल कर ही रख देना चाहिए। इसी में शिष्य का सच्चा हित है।

प्रश्न किया जा सकता है कि सामायिक में गर्हा का त्याग किया है, तब गर्हा क्यों करनी चाहिए ? सामायिक में जब अठारहों पापों का त्याग कर दिया तो निन्दा का भी त्याग हो गया। फिर निन्दा किस प्रकार की जा सकती है ? निन्दा, द्वेष के

बिना नहीं हो सकती और द्वेष का त्याग कर दिया है। फिर भी निन्दा करने का विधान क्यों किया जाता है ? किसी वस्तु को हल्का बताना निन्दा है । जैसे–सोने को पीतल बताना या सच्चे को झूठा बताना। इस प्रकार किसी को हलका बताने के लिए विरुद्ध बात कहना निन्दा है। ऐसी निन्दा द्वेष से उत्पन्न होती है। सामायिक करने करने वाले ने द्वेष का त्याग कर दिया है। फिर भी क्यों निन्दा की जाती है ? अगर आत्मनिन्दा की बात कही जाय तो यह प्रश्न होगा कि जब दूसरों की निन्दा करना बुरा है तो आत्मा की निन्दा करना कैसे अच्छा कहा जा सकता है ? इस प्रकार कालास्यवेषिपुत्र मुनि कहते हैं–इस प्रकार निन्दा करने की बात कहना और आत्मा को सामायिक आदि बताना आपत्तिजनक मालूम होता है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि तत्त्व–निर्णय के लिए तर्क कर रहे हैं। आज किसी बात का निर्णय न करने के कारण बहुत गड़-बड़ मच रही है। कई के हाथ में वस्तु ही नहीं आती और कई के हाथ में वस्तु आकर भी छूट जाती है । कई लोग कहते हैं–हमें जिस रास्ते जाना ही नहीं, उसे पूछने की क्या आवश्य-कता है ? ऐसा सोचकर कई लोग वस्तु के विषय में अज्ञान ही रखना चाहते हैं। इस प्रकार संसार में चार प्रकार के आदमी होते हैं। चारों प्रकार के आदमी किस विचार के होते हैं, इस के लिए एक उदाहरण है।

चार आदमी जंगल में चले जा रहे थे। एकने दूसरे से सीप का चमकता हुआ टुकड़ा देखकर कहा–'देखो, वह चांदी चमक रही है।' इस आदमी का ज्ञान विपरीत है।

दूसरे आदमी ने कहा—'कौन जाने यह सीप है या चांदी है?' इस आदमी को संदेह है। वह किसी का निर्णय नहीं कर पाता।

तीसरा आदमी कहता है—'सीप हो या चांदी हो, हमें इससे क्या मतलब है? यह आदमी किसी प्रकार का निर्णय नहीं करना चाहता।

शास्त्र में इन तीनों की बुद्धि को अज्ञान कहा है। जब इनमें निर्णय करने की शक्ति है तो निर्णय क्यों नहीं कर लेते? निर्णय न करके विपरीतता, संशय रखना और निर्णय की बुद्धि न रखना यह तीनों अज्ञान हैं। किसी बात का निर्णय हुए बिना उसके विषय में निश्चय न होगा। इसलिए आत्मा को निश्चल करने के उद्देश्य से प्रत्येक बात का निर्णय करो।

तीन आदमियों के बाद चौथे ने कहा—ठहरो, मैं अभी जाता हूँ और वह चीज़ लिये आता हूँ। फिर निर्णय हो जायगा कि वास्तव में वह क्या है? ऐसा कह कर वह गया और सीप उठा लाया। तीनों से कहा–देख लो, यह क्या है? आप तीनों अज्ञान में पड़े थे। अब आप समझ सकते हैं कि यह चांदी नहीं, सीप है।

धर्म के विषय में भी यही बात है। अधर्म, पाप, पुण्य आदि के संबंध में भी यही समझना चाहिए। किसी बात का निर्णय न करना अज्ञान है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि से स्थविर भगवान् कहते हैं—हम जो गर्हा करते हैं, वह संयम है। सम्यक् प्रकार से यत्न करना संयम कहलाता है। सत्य और असत्य को जान लेने पर ही संयम हो सकता है। सिद्धान्त में कहा है—

सुच्चा जाणइ कल्लाणं, सुच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सुच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

श्री दशवैकालिक सूत्र ४ अ०

सत्य को भी जाने, असत्य को भी जाने और सत्यासत्य-दोनों को जाने। पाप भी सुनने से जाना जायगा, पुण्य भी सुनने से जाना जायगा और पुण्य-पाप दोनों भी सुनने से ही जाने जाएँगे। इसलिए दोनों को सुनकर फिर इस बात का निर्णय करना चाहिए कि किसे ग्रहण किया जाय और किसे छोड़ा जाय? जो सुनेगा ही नहीं, वह गड़बड़ में पड़ा रहेगा। सुनने से पाप मालूम होगा और पाप की निन्दा करने से संयम होगा।

जो मनुष्य साँप या रस्सी का निर्णय नहीं करेगा, वह रस्सी के भरोसे साँप को भी पकड़ लेगा। लेकिन जब जान लेगा कि यह साँप है, तो रस्सी के भरोसे क्या साँप को पकड़ेगा?

नहीं, वह सांप से बचता ही रहेगा। इसी प्रकार पाप की निन्दा करते रहने वाला पाप से बचा रहेगा। सांप से बचे रहने में रक्षा है और पाप से बचे रहने में यतना हुई और यतना ही संयम है। निन्दा पाप से बचने का उपाय है। लेकिन निन्दा करने का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि सांप कहकर रस्सी पकड़े। सांप को सांप समझ कर उससे बचना ही सांप की सच्ची निन्दा है।

सांप को चाहे सांप जानकर पकड़े, रस्सी जानकर पकड़े या फूल माला समझ कर पकड़े, पर सांप को पकड़ने वाला उससे बचता नहीं है। वह सांप से डँसा जाता है। फूल की माला समझ लेने पर भी उसके काटने से विष चढ़ेगा ही। इसी प्रकार चाहे पाप को पाप समझ कर अपनाओ, उसकी सराहना करके अपनाओ या बुरा समझ कर अपनाओ, वह है तो पाप ही। दारू को कई लोग लाल शर्बत कहकर पीते हैं। कोई उसे वीर रस कहते हैं और आनन्द देने वाली समझते हैं, लेकिन है तो वह दारू ही।

कई लोग विषय-सेवन में आनन्द मनाते हैं। कइयों ने पांच मकार-सेवन से सुख समझ रक्खा है अर्थात् मांस, मदिरा, मैथुन, मीन और मुद्रा में ही मोक्ष मानते हैं। उनमें पाप से घृणा न करने के कारण ही ऐसी भावना उत्पन्न हुई है।

इसी लिए शास्त्र में पाप की निन्दा करने का विधान है । पाप की निन्दा करने वाला पाप में प्रवृत्त नहीं होता । इसी हेतु स्थविर भगवान् ने कहा—हम पाप की निन्दा-गर्हा करते हैं ।

गर्हा करने से नये कर्म नहीं बँधते, इतना ही नहीं उससे पूर्व के किये हुए पाप कर्म भी नष्ट हो जाते हैं । सांप का विष मंत्र से उतर जाता है । मंत्र जपने पर सांप काटता तो नहीं ही है, मगर चढ़ा हुआ विष भी उतर जाता है । इसी प्रकार गर्हा, पाप उतार ने का अमोध मंत्र है । गर्हा से सब प्रकार के पाप का अत्यन्त विनाश होता है और नये पापों से आत्मा की रक्षा होती है ।

पहले जो पाप किये हैं, वह बुरे मन से ही किये हैं । जब बुरे मन से पाप होता है तो क्या अच्छे मन से पाप नष्ट नहीं होगा ? अवश्य नष्ट होगा । पाप का नाश होने के कारण ही शास्त्र में गर्हा करना कहा है । गर्हा से बालपन यानी अज्ञान, मिथ्यात्व आदि दोष दूर होते हैं, जिससे पुराने पापों का नाश हो जाता है ।

आप सामायिक में 'निन्दामी, गरिहामि' कहते होंगे, लेकिन धर्मगुरु के पास जाकर भी कभी गर्हा की है ? गर्हा नहीं की तो क्या आपने पाप नहीं किया ? अगर पाप करते हो तो उसकी गर्हा क्यों नहीं करते ? जो भी पाप किये हों, अपने धर्मगुरु के

सामने स्पष्ट कह दो। इससे नये पापों से बचोगे और पहले के पाप कटेंगे।

कई लोग कहते हैं—पाप की ओर से मन नहीं रुकता। शास्त्र कहता है-मन को वश में करने का एक अच्छा उपाय गर्हा है। मन में जो भी पाप आवे, उसे सन्त या अन्य किसी श्रद्धापात्र व्यक्ति के सामने खोलकर कर कहदे। गर्हा करने के लिए सामने गुरु हों तो अच्छी बात है। नहीं तो पति, पत्नी के सामने और पत्नी, पति के सामने भी गर्हा कर सकती है। अथवा किसी अन्य योग्य व्यक्ति को भी इसके लिए नियत किया जा सकता है। उसके सामने जाकर मन में आई हुई पाप की बात प्रकट कर देना चाहिए। ऐसा करने से मन पाप की ओर जाने से रुकेगा और धर्म कार्य अच्छा होगा।

पूज्य श्रीलालजी महाराज एक बात कहा करते थे। वह इस प्रकार है—एक श्रावक था। वह एक दिन सामायिक करने बैठा मगर सामायिक में उसका मन नहीं लगा। उसने सोचा—'मुझ से कोई पाप तो नहीं हो गया है, जिसके कारण मन सामायिक में नहीं लग रहा है?' उसने आलोचना की, पर उसे अपने में कोई पाप दिखाई नहीं दिया। उसने सोचा—मुझ में तो कोई पाप मालूम नहीं होता लेकिन मेरी पत्नी मेरा कमाया खाती है और मैं उसका बनाया खाता हूँ। संभव है उसने कोई पाप किया हो

और उसके पाप के कारण मेरा मन न लगता हो । वह उठकर अपनी स्त्री के पास गया । उसने कहा—आज मेरा मन सामायिक में नहीं लगता । मैंने आत्मालोचना की, मगर अपने भीतर कोई पाप नहीं मिला । तुमने तो कोई पाप नहीं किया है ?

स्त्री समझदार थी । उसने कहा—मैंने और कोई पाप तो नहीं किया है, मगर एक पाप अवश्य याद आता है । आज घर में आग नहीं थी और मैं पड़ोसिन के घर आग लेने गई थी । मैंने उससे बिना पूछे ही उसका एक कंडा (छाणा) ले लिया था । उसे चूल्हे में जला कर रोटी बनाई थी । वह रोटी आपने खाई है, शायद इसलिए सामायिक में आपका मन नहीं लगता ।

श्रावक ने कहा—बस, इसी पाप के कारण मेरा मन सामायिक में नहीं लगा है । अब जाओ और उनसे क्षमा मांग कर, वे जो बदला मांगें, देकर इस पाप को दूर करो ।

पति की बात मानकर श्राविका पड़ौसिन के घर गई । पड़ौसिन से कहा—आज मैं आपके यहाँ आग लेने आई थी । आग लेना-देना तो रहता ही है, मगर आप से बिना पूछे आपका एक कंडा मैंने उठा लिया था । आपकी मंजूरी बिना कंडा लेने का मुझे अधिकार नहीं था । फिर भी मैंने ले लिया । उसे चूल्हे में जलाकर रोटी बनाई । रोटी मेरे पति ने खाई । इस कारण उनका मन सामायिक में नहीं लगा । अब मैं आपसे माफि मांगने आई हूँ ।

मुझे माफी दो और जो कुछ भी चाहे, कंडे का बदला लेकर मेरा पाप मिटाओ।

पड़ौसिन कहने लगी—आप मुझसे माफ़ी क्यों माँगती हैं, मुझे बड़े महत्व की बात बता रही हैं। मैं इसके लिए आपका आभार मानती हूँ। निदान उसने बहुत आभार मानते हुए कहा—आपका पाप तो नष्ट हो ही गया, आपने हमें भी पाप से बचने की शिक्षा दी है।

समायिक में मन न लगने का कारण पाप की गर्हा न करना है। गर्हा न करने पर सामायिक में कैसे मन लग सकता है?

पड़ौसी के निमित्त से धर्म भी होता है और पाप भी होता है। अच्छा भाग्य होने पर ही अच्छा पड़ौसी मिलता है।

वह श्राविका गृहस्थ स्त्री थी। इसलिए कह सकती थी कि आग जलाकर इतना आरंभ किया, फिर कंडे का क्या पाप! लेकिन श्रावक विश्वासघात करना—बिना आज्ञा किसी की चीज़ लेना उचित नहीं समझता। जिसका लेना अपराध है, उसका लेना पाप है। इस पाप को त्याग करने वाले का कल्याण होता है।

स्थविर भगवान् ने कहा है—हम संयम के लिए निन्दा करते हैं। संयम के लिए निन्दा करना बुरा नहीं है। अपने व्यसन को पोसने और दूसरे को हल्का बताने के लिए निन्दा करना तो बुरा है, मगर आत्मा को ऊँचा उठाने के लिए अपने

दोषों की निन्दा करना अच्छा है। हाँ, भीतर भाव कुछ और हों लेकिन ऊपर से निन्दा करे तो भी बुरा है। मगर अपने या दूसरे के संयम के लिए निन्दा करने में कोई बुराई नहीं है। पाप से बचने के लिए लिए निन्दा करो, पाप बढ़ाने के लिए निन्दा मत करो।

पहले कहा जा चुका है कि निन्दा करने से आते हुए पाप ही नहीं रुकते, किन्तु इससे और भी फल होता है। जितने भी दोष हैं उन्हें कृश करके निन्दा उनका नाश कर डालती है। यों तो दोषों के नाम अनेक हैं और सब का संग्रह करने से एक बड़ा पोथा तैयार हो सकता है, मगर जैसे बगीचे के सब वृक्षों की गणना न हो सकने पर उनकी श्रेणी बना ली जाती है, इसी प्रकार सब दोषों की गणना नहीं हो सकती, अतः पाप को पाँच श्रेणीयों में बाँट लिया गया है। वे पांच श्रेणियाँ यह हैं–मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग।

उलटी समझ को मिथ्यात्व कहते हैं। साधु को असाधु और असाधु को साध मानना, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना, देव को कुदेव और कुदेव को देव मानना मिथ्यात्व है। आज कई आदमी साधु को स्वयं ही असाधु बनाते हैं उनके पाप बढ़ाने में सहायक होते हैं। यह मिथ्यात्व का ही प्रताप है।

किसी काम को बुरा समझते हुए भी त्याग नहीं करना अव्रत है। मिथ्यात्व छूट जाने पर भी अव्रत रह जाता है। व्रत

आने पर अव्रत दूर होता है। बुरा जान करके भी जिसको त्यागा नहीं वह अव्रत है। त्याग न करने पर उस बुरे काम के संस्कार आ ही जाते हैं।

तीसरा पाप प्रमाद है। बुरे काम को त्याग देने पर भी पहले के संस्कारों के कारण गलती हो जाती है। इसी गलती का नाम प्रमाद है। असावधानी से पाप का आना ही प्रमाद कहलाता है। साधु ने सब पाप त्याग दिये, फिर भी उसे क्रोध और लालसा पैदा हो जाना प्रमाद है। इस प्रमाद को मिटाने के लिए ही प्रतिक्रमण है। जैसे घर की सफाई की जाती है, फिर भी उसमें कूड़ा-करकट हो जाता है और उसे साफ करने के लिए ही दोनों समय झाडू लगाई जाती है। इसी प्रकार सब पाप त्याग देने पर भी पूर्व संस्कार से पाप आ ही जाते हैं। उन्हीं पापों को हटाने के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है।

चौथा पाप कषाय है। जिन कामों से संसार की वृद्धि होती है, उन क्रोध, मान, माया और लोभ को कषाय कहते हैं। प्रश्न होता है—कषाय के न छूटने से ही मिथ्यात्व, प्रमाद और अव्रत है, तो फिर कषाय को चौथे नंबर पर क्यों रखा है? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्व, अव्रत और प्रमाद के हट जाने पर भी संज्वलन नामक कषाय शेष रह जाती है। इसलिए कषाय को चौथे नंबर पर कहा है। मिथ्यात्व हटने पर अनन्तानुबंधी

कषाय नहीं रहता, अव्रत दूर होने पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय कट जाती है और प्रमाद का नाश होने पर प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं रहती। इन तीन कषायों का नाश होने पर केवल संज्वलन कषाय बचती है।

पांचवां पाप योग है। वीतराग होने पर भी मन, वचन काय का योग रहता है, लेकिन ज्ञानी इसे भी दोष मानते हैं। यों तो मन, वचन, काय के योग बिना कोई भी काम नहीं होता, इसलिए योग गुण भी है, पर जबतक योग है, तबतक मोक्ष नहीं होता, इस अपेक्षा से वह दोष भी है। शुभ योग गुण या संवर में भी है।

यह पांच दोष मुख्य हैं। निन्दा-गर्हा करने से इनका नाश होता है। इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि गर्हा सब दोषों का नाश करने वाली है।

शास्त्र में कषाय के चार प्रकार बताये हैं। उनमें से एक प्रकार की कषाय तो पानी पर खींची जाने वाली लकीर के समान होती है। इधर खींची उधर मिटी। इसी प्रकार दीखने में तो क्रोध दीखता है, लेकिन भीतर कुछ भी नहीं है। ज्ञानी की अपेक्षा यह कषाय भी दोष ही है। यद्यपि यह कषाय स्वर्ग की सामग्री पैदा करती है, लेकिन ज्ञानी की दृष्टि में स्वर्ग भी तुच्छ है।

ज्ञानी पुरुष कभी ऐसी निन्दा नहीं करते, जिससे किसी को दुःख पैदा हो। वे दूसरों को उठाने के लिए और अपने आप

को उन्नत बनाने के लिए निन्दा करते हैं। डाक्टर भी चीरा लगाता है। और एक अनजान आदमी भी चीरा लगा सकता है। मगर दोनों की क्रिया में कितना अन्तर है ! यही अन्तर ज्ञानी द्वारा की गई निन्दा में और अज्ञानी द्वारा की गई निन्दा में भी है। यों तो संसार में भी पुत्र या परिवार का कोई आदमी बिगड़ता हो तो उसे भला-बुरा कहना ही पड़ता है, उसकी निन्दा भी करनी पड़ती है। लेकिन देखना चाहिए कि उस निन्दा के पीछे कौन-सी भावना काम कर रही है ? क्या मंदोदरी और विभीषण ने रावण की निन्दा नहीं की थी ? यह बात दूसरी है कि उनके निन्दा करने पर भी रावण नहीं सुधरा, लेकिन वे अगर रावण की निन्दा न करते तो वे भी रावण के साथ ही दोषी माने जाते। उन दोनों ने रावण की निन्दा की और निन्दा करना पाप भी माना जाता है, फिर भी कोई उन्हें बुरा कहता है ? उन्होंने निन्दा की थी, इसके लिए उनकी निन्दा नहीं की जाती। क्योंकि उन्होंने गुण बढ़ाने के लिए निन्दा की थी। गुण बढ़ाने के लिए कडुवी दवा भी पिलानी पड़ती है। संसार में किसी को कटुक बात भी कहनी पड़ती है। कहावत है—

कड़वी बोली मायड़ी, मिठा बोला लोग।

माँ कडुवी बात कहती है, लेकिन हित के लिए। इसी तरह ज्ञानी पुरुष निन्दा करते हैं, लेकिन हित के लिए।

अतएव ज्ञानपूर्वक ही निन्दा करना चाहिए। अज्ञान और बाल-पन को बुरा समझ कर निकालने के लिए निन्दा करना हिता-वह है।

स्थविर भगवान् कहते हैं—तुमने संयम लेकर पाप को बुरा समझ लिया, तभी संयम हुआ। पाप को बुरा समझना पाप की निन्दा ही है और इस प्रकार निन्दा से संयम निकला।

ज्ञानयुक्त निन्दा करने से एक लाभ और है। दोष की निन्दा करने से आत्मा असंयम से निकलकर संयम-मार्ग पर स्थित होता है।

यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि निन्दा करने से आत्मा संयममार्ग पर स्थित होता है तो संयम और आत्मा एक नहीं रहा। पहले संयम और आत्मा को एक ही कहा ह। इन दोनों बातों की संगति कैसे बैठती है? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं—यह बात समझाने के लिए कही है। आत्मा की आत्मा के गुणों में ही स्थापना है। संयम आत्मा से अलग नहीं है, जिससे कि आत्मा के संयम में स्थापित करने की आवश्यकता पड़े। किन्तु आत्मरूप संयम ही आत्मा को प्राप्त हो और आत्मा रूप संयम ही आत्मा में स्थापित हो, इसी उद्देश्य से यह कहा है कि निन्दा करने से आत्मा असंयम से निकल कर संयम-मार्ग में स्थित होता है।

जब किसी को क्रोध आता है तो उस के लिए कहा जाता है कि यह आपे से बाहर हो गया। लेकिन आपे से बाहर कैसे निकला ? कौन किससे बाहर निकला ? ऐसे प्रसंग पर यह भी कहा जाता है कि आपा मत गंवाओ, आपे में रहो। जब आत्मा में दुर्गुण आते हैं, तब आत्मा अपने गुण से बाहर निकल जाता है और जब गुण होते हैं तब वह अपने आपे में ही रहता है।

दुर्गुणों को न त्यागना आत्मा से बाहर निकलना कहलाता है। राजीमती ने रथनेमि से कहा था–ठिकाने आओ। क्या रथनेमि गुफा से बाहर निकल गये थे कि राजीमती को ठिकाने आने की बात कहनी पड़ी ? यह इसलिए कहना पड़ा कि उनका आत्मा संयमरूपी गुण से बाहर निकल गया था। तभी राजीमती ने उन्हें फटकार कर कहा था।

> धिरत्थु ते जसो कामी ! जो तं जीवियकारणा।
> वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं हवे ॥

हे अपयश–[illegible]मी ! [illegible] धिक्कार है।

राजीमती का यह कथन क्या रथनेमि की निन्दा नहीं करता था ? लेकिन इस कथन का आशय रथनेमि को संयम पर दृढ़ करना था। इसीलिए राजीमती ने कहा–हे अपयश–कामी ! तुझे धिक्कार है, जो तू वमन किये को फिर ग्रहण करना चाहता

है। भला आदमी वमन किये की ओर देखता भी नहीं है। कौए और कुत्ते ही वमन को देखकर प्रसन्न होते हैं। तुम्हारे भाई ने पहले मुझे वमन किया। फिर मैंने संसार का वमन किया और तुमने भी संसार का वमन किया फिर वमन किये की इच्छा करते हो! यदि तुमसे रहा नहीं जाता तो मर क्यों नहीं जाते! मरना अच्छा है परन्तु वमन किये को खाना अच्छा नहीं है।

स्थविर भगवान् भी कहते हैं—यह निन्दा संयम पर दृढ़ रहने के लिए है। सिद्धान्त में कहा है कि—

धम्मे संपडिवाइओ।

अर्थात्–रथनेमि धर्म से गिर रहे थे, पर निन्दा ने उन्हें धर्म पर स्थिर कर दिया। संयम तो आत्मा ही है, आत्मा से बाहर संयम नहीं है, पर आत्मा उससे गिरता था। उसे निन्दा करके संयम पर दृढ़ कर दिया। इस प्रकार निन्दा एकान्त बुरी नहीं है।

आत्मा जबतक आत्मा में ही रहेगा, तबतक कोई दुर्गुण न होगा। लेकिन आत्मा जब शरीर के दोष में जाता है तब कषाय में पड़ता है और कषाय में पड़ना असंयम है। इसमें आत्मा को न जाने देना संयम है।

निन्दा करने से आत्मा संयम में स्थित होता है, इतना ही नहीं निन्दा से संयम पुष्ट होता है। निन्दा करने से संयम की ताक़त बढ़ती है। पाप की निन्दा नहीं की जायगी तो संयम में निश्चलता

उत्पन्न न होगी। जैसे शीशा की नींव मजबूत मानी जाती है, उसी तरह आत्मा भी संयम से निश्चल होता है।

स्थविर भगवान् की बातें सुनकर कालास्यवेषीपुत्र अनगार सोचने लगे—यह व्याख्या अश्रुतपूर्व है। पहले वह सोचते थे कि यदि ये सामायिक आदि को और उनके अर्थ को जानते हैं तो हमसे अलग क्यों हैं? हममें मिल क्यों नहीं जाते? लेकिन अब वह समझ गये कि मैं इन्हें अपने में मिलाने योग्य नहीं हूँ। मैं स्वयं इनमें मिलने योग्य हूँ। वे किस प्रकार स्थविर भगवान् के साथ मिलते हैं, इस बात का विचार आगे किया जाता है।

मतलब यह है कि अपने दोष निकलते हों अर्थात् पाप से बचाव होता हो तो निन्दा बुरी नहीं है। पाप से बचने के लिए भक्तों ने भी निन्दा की है। जैसे—

धिक तेरा जीवड़ा न भजता गोविन्द को।
धिक तेरा तन धन धिक है जीवन को॥

यह निन्दा है। यहां आत्मा को धिक्कार देते हुए आत्मनिंदा की गई है कि—हे आत्मा! तू इस शरीर को पा करके भी अगर परमात्मा को—गोविन्द को—नहीं भजता तो तुझे धिक्कार है।

इन्द्रियों को 'गो' कहते हैं। इन पांच इन्द्रियों के मालिक इन पर हुक्म चलाने वाला मन 'गोप' है। उसका इन्द्र अर्थात् स्वामी आत्मा गोविन्द है।

इस प्रकार जो परमात्मा को न भजकर इन्द्रियों के तावे में पड़ गया है, उसे धिक्कार दिया है। जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है, वह इन्द्रियों के गुलाम को कह सकते हैं-तुझे धिक्कार है। ज्ञानियों ने अपना ध्यान परमात्मा में निश्चल करके फिर दूसरे को उपदेश दिया है। वे कहते हैं-

जिनकी लगन राम से नाहीं।

ते नर खर कूकर शूकर सम, वृथा जियत जग माहीं ॥

मगर इस प्रकार की निन्दा या प्रताड़ना कषाय पूर्वक नहीं की गई है। इससे आत्मा मैला नहीं होता। अतएव यह दोष नहीं, गुणरूप है। जो पुरुष आत्मा को भूल जाता है, उसे खर, कूकर आदि न कहा जाय तो और क्या कहा ■■ ! तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जो निन्दा करते हैं, वह दूसरों को उन्नत बनाने और दूसरों का अज्ञान मिटाने के लिए ही करते हैं।
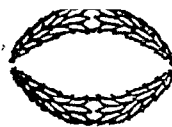
कालास्यवेषिपुत्र मुनि की बोध प्राप्ति

मूलपाठ—

एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते वंदाति, णमंसति, वन्दित्ता-णमंसित्ता एवं वयासी-एएसि णं भंते ! पयाणं पुव्विं अन्नाणयाए, असवणयाए, अवोहियाए, अणभिगमेणं, अदिट्ठाणं, असुअ णं, अस्सु-आणं, अविन्नायाणं, अव्वोगडाणं; अवोच्छि-न्नाणं, अणिज्जूढाणं, अणुवधारिआणं, एअमट्ठं नो सद्दहिए, णो पत्तइए, णो रोइए । इयाणिं भंते ! एतेसिं पयाणं जाणयाए, सवणयाए, बोहिए अभिगमेणं, दिट्ठाणं, सुआणं, सुआणं,

विन्नायाणं, वोगडाणं, वोच्छिन्नाणं णिज्जूढाणं, उवधारिश्राणं एश्रमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि, एश्रमेयं से जहेयं तुब्भे वदह ।

तएणं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—सद्दहाहि अज्जो ! पत्तियाहि अज्जो !, रोएहि अज्जो से जहेयं अम्हे वदामो ।

तएणं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ, नमंसइ, वन्दित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वयाइं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।

तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता

चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइय सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जिता णं विहरति । तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणइ, पाउणित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणयं, अदंतधुवणयं, अच्छत्तयं, अणोवाहणयं, भूमिसेज्जा, फलहसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोओ, बंभचेरवासो, परघरप्पवेसो, लद्धावलद्धी, उच्चावया, गामकंटगा, बावीसं परिसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तं अट्ठं आराहेइ । आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनीसासेहिं सिद्धे, बुद्धे, मुत्ते, परिनिव्वुडे, सव्वदुक्खपहीणे ।

संस्कृत छाया—

अत्र सः कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः सम्बुद्धः स्थविरान् भगवतो वन्दे, नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्-एतेषां भगवन् ! पदानां पूर्वम् अज्ञानतया, अश्रवतया, अबोधितया, अनभिगमेन,

अदृष्टानाम्, अश्रुतानाम्, अस्मृतानाम्, अविज्ञातानाम्, अव्याकृतानाम्, अव्युच्छिन्नानाम्, अनिर्यूढानाम्, अनवधारितानाम्, एष अर्थो नो श्रद्धितः नो प्रतीतः, नो रुचितः। इदानीं भगवन् ! एतेषां पदानां ज्ञानतया, श्रवणतया, बोधितया, अभिगमेन, दृष्टानां, श्रुतानां, स्मृतानां, विज्ञातानां, व्याकृतानां, व्युच्छिन्नानां, निर्यूढनानम्, अवधारितानम्, एनमर्थं श्रद्दधामि, प्रत्येमि, रोचे—एवमेतत् तत् यथैतत् यूयम् वयत।

ततः ते स्थविरा भगवन्तः कालास्यवेषिकपुत्रऽनगार मेव ममादिषुः— श्रद्धेहि आर्यः प्रत्येहि आर्यः रोचस्व आर्यः तद् यथैतद् वयं वदामः।

ततः कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः स्थविरान् भगवतो वन्दते, नमस्यति, नमस्थित्वा एवमवादीत्—इच्छामि भगवन् ! भवतामन्तिके चतुर्यामाद् धर्मात् पञ्चमहाव्रातिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहर्त्तुम्।

यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धम् !

ततः सः कालास्यवेषिकपुत्रोऽनागारः स्थविरान् भगवतो वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा, नमस्यित्वा चतुर्यामाद धर्मात् पञ्चमहाव्रातिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसंपद्य विहरति। ततः स कालास्यवेषिकपुत्रोऽनगारः बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं प्राप्नोति, प्राप्य (पालयित्वा) यस्यार्थे

क्रियते नग्नभावः, मुण्डभावः, अस्नानकम्, अदन्तधूपनकम्, अच्छत्रकम् अनुपानत्कं, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठय्या, केशलोचः, ब्रह्मचर्यवासः, परगृहप्रवेशः लब्ध्ययलब्धिः, उच्चावचा ग्रामकण्टका द्वाविंशतिः परिषहोपसर्गाः अधिसह्यन्ते, तमर्थमाराधयाति। आराध्याचरमैः अच्छ्वासनिः श्वासैः सिद्धः, बुद्धः मुक्तः, परिनिर्वृत्तः, सर्वदुःखप्रहीणः।

शब्दार्थ—

(स्थविर भगवान् का उत्तर सुनकर) वह कालास्यवेषिपुत्र अनगार बोध को प्राप्त हुए। और उन्होंने स्थविर भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। फिर कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने इस प्रकार कहा—हे भगवन्! इन (पूर्वोक्त) पदों को न जानने से, पहले सुने न होने से, बोध न होने से अभिगम न होने से, दृष्ट न होने से, विचारे न होने से, सुने न होने से, विशेष रूप से न जानने से, कहे हुए नहीं होने से, अनिर्णीत न होने से, उद्धृत न होने से और यह पद अनधारण किये हुए न होने से, इस अर्थ में श्रद्धा नहीं की थी, प्रतीति नहीं की थी, रुचि न की थी और हे भगवन्! अब यह जान लेने से, सुन लेने से, बोध होने से, अभिगम होने से, दृष्ट होने से, चिन्तित होने से, श्रुत होने से, विशेष जान लेने से,

कथित होने से, निर्णीत होने से उद्धृत होने से, और इन पदों का अवधारण करने से, इस अर्थ में मैं श्रद्धा करता हूँ। प्रतीति करता हूं, रुचि करता हूं। (हे भगवन्) आप यह जो कहते हैं सो यह इसी प्रकार है।

तब उन स्थविर भगवान् ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा-हे आर्य ! हम यह जैसे कहते हैं, वैसी श्रद्धा रक्खो, प्रतिति रक्खो, रुचि रक्खो।

तब कालास्यवेषिकपुत्र अनगार ने स्थविर भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया और इस प्रकार बोले—हे भगवन् ! तुम्हारे समिप चार महाव्रत वाला धर्म (छोड़कर) प्रतिक्रमण सहित और पांच महाव्रत वाला धर्म प्राप्त करके विचारने की इच्छा करता हूँ।

(स्थविर भगवान बोले)—हे देवानुप्रिय ! जैसे सुख उपजे, वैसा करो। बिलम्ब न करो,

तब कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने स्थविर को वन्दना की, नमस्कार किया और चार महाव्रत वाला धर्म (छोड़ कर) प्रतिक्रमण वाला पांच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया और विचारने लगे। उसके पश्चात् कालास्य-

वेषिपुत्र अनगार ने बहुत वर्षों तक साधुपन पाला और जिस प्रयोजन के लिये नग्नता, मुंडितता, स्नान न करना, दातौन न करना, छत्र न रखना, जूता न पहनना, जमीन पर शय्या करना, पाट पर शयन करना, काष्ठ पर शयन करना, केश लोच करना, ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना, (भिक्षा के लिये) दूसरे के घर जाना, लाभ और अलाभ (सहना) तथा अनुकूल और प्रतिकूल, इन्द्रियों के लिये कांटे के समान शब्दादि एवं बाईस परीषह-उपसर्ग सहना, यह सब किया, उस प्रयोजन को कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने आराधन किया और वह अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा सिद्ध हुए और सब दुःखों से हीन हुए।

व्याख्यान—

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने पहले तो जोश के साथ कहा था कि हे स्थविर ! तुम सामायिक आदि नहीं जानते, लेकिन उनका हृदय साफ था। जब स्थविर भगवान् ने उन्हें समझाया तो वे अत्यन्त सरल हो गये। उन्हें बोध हो गया।

मुनि को बोध होगया, इस कथन से यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि मुनि पहले क्या मिथ्यात्वी थे ? मगर ऐसी बात नहीं है। एक ही शब्द के अर्थ अनेक होते हैं। मिथ्यात्व हटने

पर भी बोध पाना कहा जाता है और विशेष ज्ञान होने पर भी बोध पाना कहलाता है। यहाँ विशेष ज्ञान पाने का अभिप्राय है। अर्थात् कालास्यवेपिपुत्र मुनि ने विशेष बोध प्राप्त किया।

विशेष बोध प्राप्त करने का फल यह हुआ कि उन्होंने स्थविर भगवान् को भक्तिभाव से वन्दन-नमस्कार किया। उन्हें नमस्कार करते समय यह विचार नहीं आया कि मैं भगवान् पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय का हूँ। मैं इनसे प्राचीन सम्प्रदाय का मुनि हूँ। उन्होंने सिर्फ यह विचार किया—मैंने स्थविर भगवान् से बोध पाया है। यह मेरे उपकारी हैं। इन्हें वन्दन नमस्कार करना मेरा धर्म है।

आजकल वन्दना करने के संबंध में विशेष विचार नहीं रहा किसे वन्दना करना चाहिए और किसे नहीं? यह विवेक प्रायः चला गया है किसी को लोक-व्यवहार का पालन करने के लिए राम-राम या जुहार करना अलग बात है, लेकिन धर्म गुरु को की जाने वाली वन्दना किसे कब करना चाहिए, इस बात का बोध इस वर्णन से हो जाता है। किसी के द्वारा तत्व समझने पर जब यह विश्वास होजाय कि यह सच्चे महात्मा हैं, तब उन्हें वन्दन-नमस्कार करने में विलंब नहीं करना चाहिए। अगर कोई पोल दिखाई दे तो इन्द्र के झुकाने पर भी नहीं झुकना चाहिए।

किसके आगे झुकना चाहिए, यह बात व्यावहारिक दृष्टि से राणाप्रताप के जीवन से जानी जा सकती है। राणा जंगल-

जंगल भटके। घास के बीजों की रोटी खाई। सभी कुछ सहन किया, परन्तु बादशाह के सामने सिर न झुकाया। राणा ने अनेक कष्ट सहने पर भी बादशाह के सामने सिर न झुकाया मगर आज लोग गोबर के पुतले हो रहे हैं और कहते हैं—हमें क्या है ! हमारे लिए तो सभी समान हैं। सभी को वन्दना करना अपना काम है। लेकिन शास्त्र कहता है कि जिससे बोध प्राप्त हो उसे नमस्कार करने में किंचित् भी आगा-पिछा मत करो और जिसमें दोष मालूम हो उसे किसी भी समय सिर न झुकाओ। लोक-व्यवहार के लिहाज़ से, नस्कार करने वाले को नमस्कार करना ही पड़ता है, लेकिन गुरुबुद्धि से नमस्कार करना दूसरी बात है। इस प्रकार के नमस्कार का पात्र वही है, जिससे बोध पाया हो ! यों तो नमस्कार करने वाले को राणा भी नमस्कार करते होंगे, मगर अकबर मालिक बन कर उनसे नमस्कार करना चाहते थे। इसी लिए कष्ट सहन करने पर भी उन्होंने अकबर को नमस्कार नहीं किया।

कालस्यवेषिपुत्र अनगार ने स्थविर भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके कहा—हे स्थविर ! आपने इन बातों का जो अर्थ बतलाया, वह पहले मैंने नहीं जाना था। मैंने यह अर्थ देखा नहीं था, इसलिए जाना नहीं था।

देखना दो प्रकार का होता है—आंख से देखना और हृदय से देखना। मुनि कहते हैं--मैंने मतिज्ञान आदि से नहीं

देखा था। मुझमें अज्ञान था, विशिष्ट ज्ञान नहीं था प्रथक स्वरूपज्ञान नहीं था। ज्ञान दो प्रकार का होता है—वस्तुज्ञान और स्वरूपज्ञान। वस्तुज्ञान साधारण होता है और स्वरूपज्ञान विशेष होता है। मुझे स्वरूपज्ञान नहीं था, इस कारण मैंने आपका बताया अर्थ नहीं जाना था

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान् से फिर कहा—कच्चे और सच्चे माणिक के भेद की तरह मुझे विषेश ज्ञान नहीं था। मुझे साधारण ज्ञान ही था। आपके बताए हुए अर्थ के स्वरूप को मैं नहीं जानता था। इसी से मैंने कहा कि आप सामायिक आदि नहीं जानते। जब आपने अर्थ बतलाया तब मैं समझ गया कि वास्तव में मैं नहीं जानता था, बल्कि आप ही जानते हैं।

यहां कालास्यावेषिपुत्र की सरलता ध्यान देने योग्य है। सच्ची बात स्वीकार करने में उन्होंने देर नहीं लगाई और अपना अज्ञान स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया। आज तो धर्म के कामों में भी कपट चलाया जाता है। मगर आप दूसरे को देखने न जाइए, आप अपना सुधार कीजिए। यह संसार है। इसी तरह चला करेगा।

भव-सागर को तिरने के लिए ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। लेकिन तिरने का काम दो प्रकार से हो सकता है।

प्रथम यह कि स्वयं को ज्ञान हो और दूसरा यह कि जिसे ज्ञान हो उस पर विश्वास किया जाय। खुद को हीरा की परख न होने पर भी जौहरी के विश्वास पर हीरा खरीदा जाता है। अगर स्वयं को ज्ञान होतो अच्छी बात है, नहीं तो ज्ञानी पर विश्वास करो। लेकिन जिस पर विश्वास करना हो उसकी जांच पहले कर लेना चाहिए की यह कहीं धोखा तो नहीं देता ? अगर यह मालूम हो जाय कि वह धोखा देता है तो उससे दूर ही रहना चाहिए। यह जानते हुए भी, कि यह धोखा दे रहा है, उसके जाल में नहीं फँसना चाहिए। जब देख लो कि इसमें ज्ञान है और निस्वार्थभाव है, तब उस पर विश्वास करो। पोल देखते हुए भी किसी को नमस्कार करना स्वयं डूबना और दूसरों को डुबाना है।

कालास्यवेपिपुत्र कहते हैं—पहले मैं इन पदों का अर्थ नहीं जानता था। आपने जो अर्थ बताया, वह मुझे मालूम नहीं था। यह अर्थ मेरे सुनने में ही नहीं आया था तो जानता कैसे ? यह अर्थ नहीं जानता था, इसलिए मुझे बोधि नहीं हुई थी।

अबोधि का अर्थ धर्म को पाना है। तो क्या कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने धर्म नहीं पाया था ? इसका उत्तर यह है कि उन्हें भगवान् पार्श्वनाथ के स्थविर से धर्म तो मिला था, मगर उसमें भगवान् महावीर के सिद्धान्त की जो विशेषता आ गई है, जिन

धर्म का जो रहस्य भगवान् महावीर ने बतलाया है, वह मैं नहीं जानता था। अथवा मेरी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण नहीं थी कि इन पदों का अर्थ समझ सकती। इसलिए इन पदों का विशिष्ट अर्थ मुझे मालूम नहीं था।

बुद्धि के संबंध में शास्त्र में एक उदाहरण दिया है। एक बुद्धि घी की बूंद के समान होती है, जिसे पानी में डालो तो वैसी बनी रहती है। फैलती नहीं है। एक बुद्धि तेल की बूंद के समान होती है, जिसे पानी में डाला जाय तो एकदम फैल जाती है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि जीतना सुने उतना ही धारण करती है और किसी की बुद्धि सुने हुए में फैलाव करती है।

मुनि कहते हैं-यह अर्थ मैंने सुना नहीं था और इस अर्थ का साक्षात् दर्शन भी नहीं हुआ था।

किसीने स्वप्न में गाय देखी। वह गाय कल्पना मात्र थी। लेकिन प्रातःकाल उठने पर सामने गाय खड़ी देखी। यह स्वप्न मे देखे का साक्षात् दर्शन कहलाया।

मुनि कहते हैं—मैंने यह अर्थ स्वप्न में देखने की तरह भी नहीं देखा था और साक्षात् भी नहीं देखा था। हमने यह अर्थ गुरु आदि के मुख से भी नहीं सुना था। अथवा शब्दों का अर्थ हमारे ज्ञान में नहीं आया, इस कारण विशिष्ट बोध नहीं हुआ। अथवा इन पदों का अर्थ गंभीर समझ कर और मुझ में विशिष्ट बुद्धि न देखकर गुरुजी ने इनका अर्थ मुझे समझाया नहीं था।

शिष्य की शक्ति देखकर ही कोई विषय उसे समझाया जाता है माता, बालक को उसकी उँगली पकड़ कर चलाती है, लेकिन अपनी चाल में उसे नहीं चलाती, वरन् बालक की चाल में वह स्वयं चलती है क्योंकि बालक में माता की चाल में चलने की शक्ति नहीं है। अगर वह बालक से अपनी लम्बी डगों की तरह डगें रखवाए तो बालक की मुसीबत हो जाए।

इसी प्रकार शिष्य की बुद्धि प्रबल न हो तो गुरु उसे अपने बराबर का ज्ञान सिखा कर उस पर भार नहीं लादता। वह शिष्य की ग्रहण और धारणा करने की शक्ति देखकर थोड़ा-थोड़ा ज्ञान सिखाता है। कालास्यवेषीपुत्र मुनि कहते हैं—शायद मुझ में अधिक बुद्धि न देखकर गुरु ने यह गंभीर अर्थ नहीं बताया होगा। उन्होंने उस समय यह अर्थ नहीं बताया तो अच्छा किया। संभव है, उस समय बता देने पर भी मेरी समझ में न आता।

संसार में ऐसे भी लोग हैं जो खा जाते हैं और लात भी मार जाते हैं। जिस झाड़ से छाया लेते हैं, उसी झाड़ को काट डालते हैं। जिसकी सहायता पाकर बढ़े हैं, उसी को मिटाने पर उतारु हो जाते हैं। ऐसे कृतघ्नो की कमी नहीं है। इस प्रकार की कृतघ्नता आने पर प्रामाणिकता नष्ट हो जाती है। आप किसी अध्यापक से पढ़े होंगे, पर आज आपको उसका स्मरण है? माँ-बाप ने आपका पालन-पोषण किया, उनका उपकार याद आता है?

जब आप में शक्ति नहीं थी, आप ज़मीन पर बैठ भी नहीं सकते थे, उस समय अगर माँ-बाप आपको न उठाते तो आपकी क्या दशा होती ? अगर आप माता-पिता के उपकार को याद नहीं करते तो इससे बड़ी कृतघ्नता और क्या हो सकती है ?

जब आप चल नहीं सकते थे, खा नहीं सकते थे, अपनी रक्षा आप नहीं कर सकते थे, और लाज भी नहीं थी, उस समय माँ-बाप न होते तो कौन रक्षा करता ? माँ-बाप में दया थी, इसलिए उन्होंने पाला-पोसा। जिस दया के कारण आप पल-पुस कर इस अवस्था में आये हैं, वही दया करते आज आप का माथा ठनकने लगता है। माँ-बाप में दया का लेश भी न होता तो वे बच्चे को मार क्यों नहीं डालते ? या क्यों न जीवित ही गाड़ देते ? मगर उनमें दया थी, इसी कारण आप पले हैं। जिस दया से आप जीवित रह सके, उसे अगर भूल जाएँ तो यह बड़ी भारी कृतघ्नता होगी।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि स्थविर से कहा था—आप सामायिक आदि नहीं जानते। 'लोहे की छुरी पारस को काटने चली पर वह सोने की बन गई।' यही कहावत इन मुनि पर चरितार्थ हुई। मुनि ने आक्षेप किया था, मगर बोध पाया।

मुनि कहते हैं—आपने जो अर्थ कहा, उसे पहले न जानने का कारण यह नहीं था कि मुझ पर गुरुजी की कृपा नहीं थी।

किन्तु उन्होंने जितनी मेरी शक्ति देखी, उतना बोध दिया। मगर आज मुझे जो विशेष बोध मिला है, उसका कारण गुरूजी का दिया हुआ सामान्य बोध है। उस सामान्य बोध के प्रताप से ही आज मैं विशेष बोध प्राप्त कर सका हूँ।

लोग विशेष वस्तु मिलने पर सामान्य चीज़ देने वाले को भूल जाते हैं। उदाहरणार्थ—माता ने सामान्य भाषा सिखाई थी और जब मदरसे में गये तो वहाँ व्याकरण से परिमार्जित भाषा पढ़ने को मिली। क्या उस समय माता को इसलिए मूर्ख कहना उचित होगा कि उसने इस प्रकार की भाषा नहीं सिखाई ? उस समय यही विचार होना चाहिए कि आज मैं जो विशिष्ट भाषा सीख रहा हूँ, वह माता की दी हुई सामान्य भाषा की ही बदौलत है। अगर माता ने साधारण भाषा न सिखाई होती तो आज विशेष शिक्षा कैसे पा सकता था ?

एक बगीचे में तेज धूप पड़ रही है। उस समय वृक्षों को संभाला न जाय तो वृक्ष सूख जाएँगे। माली ने करुणा करके उन वृक्षों को लोटा-लोटा जल दिया, जिससे वृक्ष जलने से बच गये और जीवित रह सके। फिर सावन-भादों आये। उस समय पानी की झड़ी लग गई। उन्हीं वृक्षों के पास से नालियां बहने लगीं। माली यह देखकर कहने लगा—मैंने तो इन वृक्षों को ज्यादा कुछ दिया नहीं था। सिर्फ एक-एक लोटा

पानी दिया करता था। परन्तु मेघ कितना उपकारी है कि उसने इतना जल बरसा दिया !

माली का कथन सुनकर वृक्ष बोले—हे माली, तुम ऐसा न सोचो। यह मूसलधार पानी तुम्हारे लोटे भर जल की समता कदापि नहीं कर सकता। तुमने उस कठिन में हमें जल दिया था, जब हम जल रहे थे, मरने की तैयारी में थे। उस समय तुमने लोटाभर जल न दिया होता तो हम सूख जाते और आज यह पानी हमें सड़ा डालता। वर्षा का पानी सूखे पेड़ को सड़ाता है, हरा-भरा नहीं बनाता। इसलिए हमारे ऊपर तुम्हारा महान् उपकार है। चिन्ता न करो।

यह आलंकारिक दृष्टान्त लौकिक और लोकोत्तर—दोनों पक्षों में घट सकता है। इस दृष्टान्त के अनुसार माता--पिता पहले बालक की शक्ति देखकर शिक्षा देते हैं। मगर आगे विशिष्ट शिक्षा पा करके उस सामान्य शिक्षा के महत्व को भूलना नहीं चाहिए। वही आगे की समस्त शिक्षा की नींव है। इसलिए माता-पिता के प्रति कृतज्ञ भी होना चाहिए। शिवाजी एक सिपाही का लड़का था। आगे चलकर वह एक बड़े राज्य का स्वामी बना। उसके संबंध में प्रसिद्ध है कि-'शिवाजी न होते तो सुनत होत हिंद की।' पर मूलभूत सामान्य शिक्षा देने वाली उसकी माता जीजाबाई का उस पर उपकार है या नहीं ? अगर

माता की दी हुई सामान्य शिक्षा उसे न मिली होती तो वह कैसे उन्नत बन सकता था ? जीजाबाई ने शिवाजी को कुछ ही शिक्षा दी होगी, फिर भी शिवाजी उसका अत्यन्त उपकार मानता था। इसी प्रकार कालास्यवेपिपुत्र अनगार भी स्थविर भगवान् से कह रहे हैं--गुरु की कृपा से मुझे सामान्य बोध मिला था, उसी के प्रताप से आज मैं विशेष बोध प्राप्त कर सका हूँ। अतएव मैं गुरु का ऋणी हूँ।

आपको विशेष ज्ञान देने वाले संत का समागम प्राप्त न हो और सामान्य ज्ञान देने वाले संत पुरुष ही मिलें, तब भी आपको उस सामान्य ज्ञान से अरुचि तो नहीं होनी चाहिए। आपको समझना चाहिए कि सामान्य ज्ञान देने वाले संत होने पर भी वे तीर्थंकर भगवान् की ही वाणी सुनाते हैं। बड़े संत के मिलने पर आप जैसे सामान्य संत को भूल जाते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर मिल जाने पर आप आचार्य को भी भूल जाएँगे ! तात्पर्य यह है कि विशेष ज्ञान प्राप्त होने पर सामान्य ज्ञान और सामान्य ज्ञान देने वाले को न भूलें। सन्तों की बात सदा कल्याणकारी है।

मुनि कहते हैं–मैंने इन पदों के एक–एक अंश का अर्थ नहीं सुना था। मुझे गुरु ने इन पदों का अर्थ विशेष खुलासा करके नहीं समझाया था। उन्होंने सामान्य अर्थ समझाया था, जिसकी बदौलत आज विशेष अर्थ समझ सका हूँ।

वस्तु को समझाने के दो तरीके हैं। प्रथम तो इस तरह समझाया जाता है कि स्वपक्ष की स्थापना करके विपक्ष को हटाया जाय और दूसरा तरीका यह है कि सिर्फ स्वपक्ष का स्थापन करके ही समझाया जाय। दोनों में मूल वस्तु एक ही होती है, मगर पहला तरीका विपक्ष से सावधान कर देता है और दूसरा तरीका स्वपक्ष ही बतलाता है। जैसे जौहरी अपने लड़के को सच्चे और झूठे दोनों प्रकार के रत्न बतलाता है, जिससे वह ठगाई से बचा रहे। जब लड़का सच्चे रत्नों में से झूठे को अलग छांट देता है और झूठे रत्नों में से सच्चे को अलग कर लेता है, तब जौहरी समझता है कि अब लड़का होशियार हो गया और कहीं ठगा नहीं जा सकेगा। इसी प्रकार उपदेश भी दोनों प्रकार का होता है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि कहते हैं—गुरु ने मुझे स्वपक्ष समझाया था। पहले-पहल शिष्य को स्वपक्ष ही समझाया जाता है और विशेष बुद्धि होने पर विपक्ष का निरास करना बतलाया जाता है। उस समय गुरु ने मुझ में विशेष बुद्धि नहीं देखी थी, अतएव विपक्ष का निराकरण नहीं समझाया था मैं केवल स्वपक्ष की स्थापना ही सीख सका था।

कोई भी बड़ी चीज खाना हो तो सारी की सारी मुँह में नहीं ठूंसी जाती। टुकड़े करके खानी पड़ती है। इसी प्रकार

सारा ज्ञान एकदम नहीं दिया जा सकता । ज्ञान रूपी महासागर का थोड़ा-थोड़ा ही अंश लिया जा सकता है । माता, बालक के मुँह में बड़ा कौर नहीं देती, छोटे-छोटे कौर देती हैं । इसी प्रकार गुरु भी शिष्य को एक साथ बहुत-सा ज्ञान नहीं दे सकता । ग्रहण करने की शिष्य की शक्ति के अनुसार ही ज्ञान दिया जाता है । कालास्यवेषीपुत्र मुनि कहते हैं—मुझे अपनी शक्ति के अनुसार थोड़ा-थोड़ा ज्ञान ही मिला था, इस कारण मैंने इन पदों का विशेष अर्थ नहीं जाना ।

साधारण आदमी ज्ञान प्राप्त कर सके, इस अभिप्राय से ज्ञान, टुकड़े-टुकड़े करके समझाया जाता है । जैसे भगवान् की महासागर-सी वाणी में से दशवैकालिक आदि सूत्र उद्घृत किये गये । लेकिन वे बड़े हैं इसलिए उनमें से भी कुछ और उद्घृत किया जाता है । मुनि कहते हैं—गुरु ने मुझे उस महासागर के समान ज्ञान में से कुछ हिस्सा समझाया था, उस सब के अलग-अलग हिस्से करके नहीं समझाए थे—बड़ी बात की विशेष व्याख्या नहीं समझाई थी । इस कारण इन पदों का मैं यह अर्थ जो आपने अभी बताया है—नहीं समझ सका था । यही कारण है कि आपके बताये अर्थ को पहले मैं धारण नहीं कर सका था । यही कारण है कि आपकी प्ररुपणा में मुझे श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं हुई थी ।

कालास्यवेषीपुत्र मुनि को जिन-भगवान के वचन पर श्रद्धा तो पहले ही थी, किन्तु जिन-वचन का जो वर्णन उन्होंने स्थविर भगवान से सुना, वह पहले नहीं सुना था। इसी कारण उन्हें इन वचनों पर श्रद्धा नहीं हुई थी।

प्रत्येक कार्य श्रद्धा प्रतीति और रुचि से हुआ करता है। बीमार को दवा देने से पहले, वैद्य का कर्तव्य है कि वह दवा के विषय में बीमार की श्रद्धा पैदा करे। बीमार को दवा देने के प्रति श्रद्धा न होगी तो दवा ठीक काम नहीं करेगी। बीमार को यह श्रद्धा होना आवश्यक है कि इस वैद्य की दवा मेरा रोग मिटा देगी। तभी दवाई अपना पूरा असर दिखलाएगी। जिस बीमार को दवा पर श्रद्धा नहीं है, वह प्रथम तो उसका सेवन ही नहीं करना चाहेगा, अगर सेवन करेगा भी तो विशेष लाभ नहीं उठा सकेगा।

कालास्यवेषिपुत्र कहते हैं—मुझे पहले आपके वचन पर श्रद्धा नहीं हुई, प्रतीति भी नहीं हुई और रुचि भी नहीं हुई।

जिन-वचन कैसे होते हैं, इस विषय में कहा है:—

जं सुच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं।

अर्थात्—जिन-वचन वह है, जिन्हें सुनकर तप, क्षमा और अहिंसा की प्राप्ति होती है।

भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए लोग अपने कल्पित वचनों को ही जिनवचन कह देते हैं। लेकिन आप जिनवचन की विशेष परीक्षा न कर सकें तो कम से कम इतना तो देख लिया करें कि जिन से तप, दया, क्षमा और इन्द्रियों का जीतना आवे, वे जिनवचन हैं, और जिनसे यह न आवे वह जिन-वचन नहीं हैं। इस प्रकार की परीक्षा से जब आप जिन-वचन का निश्चय कर लें तो उन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि भी अवश्य लावें।

ज्ञानप्राप्ति के लिए कुछ अधिक नहीं करना पड़ता, केवल अपना विकार मिटाना होता है। ज्ञान का अर्थ केवल पोथी पढ़ना नहीं है, किन्तु विकारों का नाश ही ज्ञान का अर्थ है। जो रोग बहुत दवा से जाते हैं, वही अगर थोड़ी दवा से चले जाएँ तो क्या हर्ज है? इसी प्रकार जो विकार बड़े ज्ञान से जाते हैं, वही अगर तप, दया, क्षमा और इन्द्रियनिग्रह से जाते हैं तो क्या बुरा है? इसलिए जिन वचनों से तप, दया, क्षमा इन्द्रियनिग्रह आदि गुण पैदा हों उन्हें जिन भगवान् का वचन समझना चाहिए और उन पर श्रद्धा, प्रतीति तथा रुचि लानी चाहिए। ऐसा करने पर ही उन वचनों से लाभ उठाया जा सकता है।

दवा रोग मिटाती है, रोग पर काम करती है, लेकिन ज्ञान किस रोग पर काम आता है? पहले उस रोग को पहचानो।

किसी पर राग होना, किसी पर द्वेष होना, किसी को देख कर क्रोध आना, इत्यादि आत्मा के विकार रोग हैं। दया, क्षमा आदि से इन रोगों की चिकित्सा होती है। जब क्रोध आए तो क्षमा का सेवन करो, काम उत्पन्न हो तो तप करो और किसी को दुखी देखो तो दया की दवा लो। बस, आप के यह रोग मिट जाएँगे।

जिन्हें ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उनकी आदत ही कुछ और हो जाती है। वे किसी ऊपरी बात से प्रभावित नहीं होते वरन् तत्त्व का विचार करते हैं। वे अपनी भूल को सहजभाव से स्वीकार कर लेते हैं। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने ऐसा ही किया। वे कहने लगे—आर्य! आपने जो बातें बतलाईं, वह मैंने पहले नहीं जानी थीं, अब आप से सुनकर मैं उन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता हूँ। अब मैं आपके बताये अर्थ का पूर्ण विश्वासी हुआ हूँ। आप का बताया अर्थ मेरी रग-रग में रम गया है।

कालास्यवेषिपुत्र की बात सुनकर स्थविर ने कहा—आर्य! अगर यह बातें तुम्हें ठीक लगी हों तो इन पर श्रद्धा करो, प्रतीति करो और रुचि करो। हमने आपके ऊपर दबाव डालने के लिए कुछ भी नहीं कहा है। न अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए ही कहा है। मैंने आत्मकल्याण की ही बात कही है और वही बात कही है, जिसके विषय में हमें आत्मसाक्षी से विश्वास हुआ है।

अगर आपको भी मेरी बातों पर विश्वास हुआ है तो उन पर श्रद्धा, प्रतीति और रूचि करो।

बहुत से लोगों को इतनी ही श्रद्धा होती है कि यह बात महात्मा कहते हैं, इसलिए इसे सुन लो। मगर जिस बात पर विश्वास हो जाय, उस पर उन महात्मा की तरह श्रद्धा, प्रतीति और रूचि रखनी चाहिए। जिसमें वह बात सुनी है, उसका हृदय बन जाना चाहिए। व्याख्याता के लिए भी उचित है कि जब वह किसी बात पर स्वयं श्रद्धा, प्रतीति और रूचि कर ले तब वह दूसरों को बतावे। आज के उपदेशकों में यह कमी है। लेकिन यह बात आज के उपदेशकों की कही हुई नहीं, बल्कि शास्त्र की कही हुई है। अतएव इस पर श्रद्धा, प्रतीति और रूचि लाओ। अगर मुझमें विकार होंगे तो मैं भोगूँगा, पर यह वचन तो ज्ञानियों के हैं। स्थविर भगवान् ने यह सब बातें कालास्य-वेषिपुत्र मुनि से ही नहीं कही है, बल्कि हम सब से भी कही हैं। अतएव इन पर विश्वास हुआ हो तो इन पर श्रद्धा, प्रतीति और रूचि करो।

स्थविर की बात सुनकर कालास्यवेषिपुत्र अनगार को यह विचार कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि कहाँ तो मेरा आक्षेपपूर्ण बोलना और इनका अनुग्रह! ऐसे महात्मा को छोड़कर मुझे अलग रहना उचित नहीं है। ऐसा विचार कर मुनि ने स्थविर भगवान्

को वन्दन-नमस्कार किया और कहा-हे स्थविर ! आपने मुझ पर बड़ी कृपा की। मुझे नया तत्त्व सिखलाया। मैंने तो आप से यह कहा था कि आप सामायिक नहीं जानते, लेकिन अब मालूम हुआ कि आप ही सामायिक आदि का ठीक अर्थ समझते हैं। आपने मुझे भी इनका अर्थ समझाया और कहा-आर्य ! यदि तुम इस अर्थ को ठीक समझते हो तो इस पर श्रद्धा, प्रतीति और रूचि लाओ। मैंने चार महावृत रूप अप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया है। अब मेरी इच्छा है कि उसे बदल कर पांच महावृत और सप्रातिक्रमण रूप धर्म स्वीकार करूँ।

प्रश्न उठ सकता है कि जब चार महाव्रतों से काम चल सकता है, तब पांच महाव्रतों की प्ररूपणा करने की क्या आवश्यकता थी ? अगर पांच महाव्रतों से हीं काम होता है तो क्या चार महाव्रत वाले मुनि मोक्ष नहीं जाते ? क्या भगवान् पार्श्वनाथ यह नहीं जानते थे कि पांच महाव्रतों से ही मोक्ष मिलता है, मैं चार ही महाव्रत किस प्रकार बतलाता हूँ ?

इस प्रश्न का विशेष विचार उत्तराध्ययन सूत्र के केशी-गौतम-संवाद में है। उसी के अनुसार यहां भी कुछ विचार किया जाता है। पहले यह देखना चाहिए कि महाव्रत किसे कहते हैं ? जो अणुव्रत की अपेक्षा बड़े हों वह महाव्रत कहलाते हैं महाव्रत कहने से यह स्पष्ट है कि छोटे भी व्रत होते हैं।

अणुव्रत हैं, तभी महाव्रत हैं और महाव्रत हैं तभी अणुव्रत भी हैं। दोनों में से एक न हो तो दूसरा भी नहीं हो सकता।

छोटे व्रत हैं तो सही, मगर अत्यन्त वैराग्य होने पर उनसे बढ़कर जो व्रत स्वीकार किये जाते हैं, उन्हें महाव्रत कहते हैं। यह महाव्रत व्यापक हैं। किसी वर्ण, जाति या वर्ग का इन पर आधिपत्य नहीं है। किसी भी जाति का, किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो, वही इन्हें धारण कर सकता है और इनका पालन कर सकता है।

महाव्रत पांच हैं लेकिन भगवान पार्श्वनाथ के समय में चार ही महाव्रत थे। यद्यपि उस समय संख्या में महाव्रत चार थे, मगर वह चार भी पांच के समान ही थे। जब कोई आदमी 'चार पचीसी' कहने से नहीं समझता तो उसे 'पांच बीसी' कह कर समझाया जाता है। यही बात महाव्रत के विषय में है। भगवान् पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह-यह चार महाव्रत बताये थे। भगवान् ने सोचा—जब परिग्रह का ही निषेध कर दिया तब साधु स्त्री को भोग ही कैसे सकते हैं? परिग्रह के बिना स्त्री नहीं भोगी जा सकती। जब परिग्रह ही नहीं रखता है तो स्त्री कैसे भोगी जा सकती है?

ऐसा विचार कर भगवान् पार्श्वनाथ ने चार ही महाव्रत बताये थे। वह समय ऐसा था कि जो बात बताई जाती, उसमें

गली नहीं निकाली जाती थी। लेकिन भगवान् महावीर के समय में वक्र-जड़ काल आगया। इससे साधु लोग यह कहने लगे कि परिग्रह रखने का निषेध है, स्त्री भोगने का निषेध कहाँ है? ममता रखना पाप है, मगर निर्ममत्व भाव से स्त्री को भोगने में क्या पाप है? इस प्रकार की विचारधारा देखकर भगवान् ने पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया और चौथे महाव्रत में स्त्री का त्याग बतलाया तथा पाँचवे में परिग्रह का त्याग बतलाया। इस प्रकार चार महाव्रतों से भी काम चलता था-चार महाव्रत पालने वाले भी मुक्त होते थे, पर जमाना पलटा तो पाँच महाव्रत बताने पड़े। स्त्री त्याग को स्पष्ट कर देना पड़ा।

प्रश्न होता है, जब चार महाव्रतों से काम होता है, तब कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने चातुर्याम धर्म को क्यों त्यागा? पाँच महाव्रतों का धर्म क्यों अंगीकार किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने सोचा–स्थविर ने मुझे वह बात बतलाई है जो पहले मैं नहीं जानता था। एक तो इसी कारण मुझे इनके साथ मिल जाना चाहिए। दूसरे जिस काल में जो बात उपयुक्त होती है, उस काल में वही करना उचित है। जाड़े के दिनों में गर्मी के मौसिम के कपड़े उपयुक्त नहीं हो सकते। समय बदलने पर कपड़े भी बदलने ही पड़ते हैं। काल पलटने पर भी जो अभिमान में चूर रह कर योग्य परिवर्त्तन नहीं करता, वह खतरा उठाता है।

भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक ऋजु-प्राज्ञ पुरुषों का काल था। मगर भगवान महावीर के समय वक्र-जड़ लोगों का काल आया। इस कारण भगवान महावीर ने जो व्यवस्था की है, उस व्यवस्था को न मानना भगवान महावीर की आसातना करना है।

भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य अप्रतिक्रमण धर्म पालते थे। दोष लगने पर वह प्रतिक्रमण करते थे, दोष न लगता तो प्रतिक्रमण नहीं करते थे। लेकिन भगवान् महावीर ने काल की विशेषता को ध्यान में रखकर यह नियम बनाया कि प्रत्येक साधु को दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। अगर कोई साधु यह प्रतिक्रमण न करे तो उसे दोष होगा। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने सोचा—जब भगवान् महावीर ने यह नियम बनाया है, तो मुझे भी इस नियम का पालन करना ही चाहिए। ऐसा सोच कर उन्होंने स्थविर से कहा—मैं पांच महाव्रतों वाला सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ।

मुनि की बात सुनकर स्थविर भगवान् ने उनसे कहा—हे आर्य! जिस तरह तुम्हें सुख हो, वैसा ही करो।

स्थविर भगवान् की स्वीकृति मिल जाने पर कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने उन्हें नमस्कार किया और चार महाव्रत वाले तथा

अप्रतिक्रमण धर्म के बदले पांच महाव्रत वाला और सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार कर लिया।

कालास्यवेपिपुत्र मुनि की मुक्ति तो चार महाव्रतों से भी नहीं रुकती थी, परन्तु उन्होंने भगवान महावीर के शासन का सम्मान रखने के लिए पांच महाव्रत का धर्म अंगीकार किया। उन्हें मर्यादा के पालन का पूरा ध्यान था। जिस प्रकार कालस्य-वेषिपुत्र मुनि ने मर्यादा का पालन किया, उसी प्रकार आपको भी मर्यादा का पालन करना चाहिए। जाति, समाज और धर्म की जो मर्यादाएँ हैं, उनका उल्लंघन करना हानिप्रद है। अगर कोई नियम बदलना आवश्यक हो तो सब को मिलकर बदलना चाहिए। मगर स्वेच्छाचारिता के साथ नियमों का भंग करना हानिप्रद है। जैसे तालाब की बँधी हुई पाल तोड़ना हानिकारक है, ऐसा करने से कभी-कभी मनुष्यों की हत्या हो जाती है, उसी प्रकार मर्यादा की पाल तोड़ने से भी बहुत हानि है। ढंग के साथ तो तालाब में से भी पानी लिया जाता है, लेकिन बेढंगे तौर पर तालाब की पाल तोड़कर पानी लेना अनर्थकारी है। अतएव जाति, समाज और धर्म की मर्यादाओं का पालन करना महत्व की बात है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने पांच महाव्रतों का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया, इस पर यह प्रश्न होता है कि उन्होंने सम्प्रदाय

का जो परिवर्त्तन किया इस परिवर्त्तन से पहले की उनकी सब क्रियाएँ व्यर्थ गई या नहीं ? अगर व्यर्थ नहीं गई तो सम्प्रदाय के परिवर्त्तन की क्या आवश्यकता थी ?

शिक्षा दो प्रकार की होती है—सामान्य शिक्षा और विशेष शिक्षा। विशेष शिक्षा प्राप्त होने पर सामान्य शिक्षा व्यर्थ नहीं जाती। कोई भी विशेष गुण प्राप्त करने से सामान्यगुण का नाश नहीं हो जाता। विशेष शिक्षा मिलने पर अगर सामान्य शिक्षा छोड़ न दी जाय तो वह विशेष शिक्षा में सहायक होती है। लड़की अपनी माता के पास सामान्य शिक्षा पाती है, लेकिन सुसराल जाने पर वह शिक्षा और वृद्धि पाती है। लड़की सुसराल जाने पर सामान्य शिक्षा को भूल जाय तो काम नहीं चल सकता।

यही बात कालास्यवेषिपुत्र अनगार के सम्प्रदाय परिवर्त्तन के लिए समझना चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान पार्श्वनाथ के धर्म में विशेषता नहीं थी और भगवान महावीर के धर्म में विशेषता थी। दोनों का मूल धर्म एक ही था। भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म से भी मुक्ति प्राप्त होती थी, लेकिन भगवान् महावीर ने कालप्रत्यय धर्म बतलाया है। जैसे ग्रीष्म ऋतु के कपड़े और होते हैं तथा शीत ऋतु के कपड़े और होते हैं। मौसिम के अनुसार कपड़े बदलने ही पड़ते हैं। इसी प्रकार

भगवान् पार्श्वनाथ का काल और था और भगवान महावीर का काल और आया। भगवान महावीर के समय वक्र-जड़ काल आया, तब धर्म का बाह्य अंग भी कालानुसार होना स्वाभाविक था। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने सोचा—इस काल के प्राणियों के कल्याण के लिए कालानुसार भगवान महावीर ने जो धर्म बताया है, उसे न मानना और अपनी पुरानी बात पकड़े रहना निरा हठ है। यह सोचकर उन्होंने सम्प्रदाय का परिवर्त्तन किया।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने स्थविर भगवान को वन्दना-नमस्कार करके प्रार्थना की—मैं धर्म-परिवर्त्तन करना चाहता हूँ। आप मुझे स्वीकृति दीजिए। तब स्थवीर ने कहा—तुम्हे जिस तरह सुख मालूम हो, वैसे ही करो।

धर्म में किसी तरह की जबर्दस्ती नहीं होती। आन्तरिक श्रद्धा के साथ जो किया जाय वही धर्म ठीक है। स्थविर ने कालास्यवेषिपुत्र से किसी प्रकार की जबर्दस्ती नहीं की। मुनि ने पूछा और स्थविर ने उत्तर दिया। स्थविर के उत्तरों पर मुनि को श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि हुई और वह परिवर्त्तन करने के लिए तैयार। हुए स्थविर ने सिर्फ यही कहा—जिस तरह तुम्हें सुख हो, वैसा ही करो।

स्थविर का यह उत्तर सुनकर मुनि को और अधिक आनन्द हुआ। उन्होंने सोचा—स्थविर भगवान् में कितनी समता है।

इन्होंने अपनी ओर से दबाव नहीं डाला और जब मैंने प्रार्थना की तब भी यही कहते हैं—'जैसे सुख उपजे, वैसा करो!' मेरा कल्याण ऐसे ही समभावी महात्मा का शरण स्वीकार करने में है। ऐसा विचार कर इन्होंने स्थविर भगवान् को फिर वन्दना की और नमस्कार किया।

कालास्यवेषिपुत्र मुनिने स्थविर भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके चार महाव्रत और अप्रतिक्रमण वाला धर्म त्याग कर पांच महाव्रत का प्रतिक्रमण वाला धर्म स्वीकार किया और वे विचरने लगे।

पार्श्वनाथ भगवान् के साधु नियमित रूप से प्रतिक्रमण क्यों नहीं करते थे? और भगवान् महावीर के साधु के लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक क्यों है? इस प्रश्न का सामाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं—यह अन्तर कालप्रत्यय है अर्थात् इस भेद का कारण काल है। जब आंधी चलती है तब घर में रेत–धूल आदि घुसती है और उस समय घर झाड़ना ही पड़ता है। लेकिन जब आंधी नहीं चलती तब कचरा देखा तो झाड़ू लगाया, कचरा नहीं देखा तो नहीं लगाया। यही बात प्रतिक्रमण के विषय में है। भगवान पार्श्वनाथ के समय के साधु सरल-स्वभाव के थे। दोष लगा देखते थे तो प्रतिक्रमण कर लेते थे, नहीं तो प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं था। लेकिन भगवान

महावीर के समय में काल वक्र-जड़ आया। इस काल के प्रभाव से मन में विकार आ ही जाता है। उस विकार को दूर करने के लिए भगवान महावीर ने पांच प्रतिक्रमण आवश्यक बतलाये हैं। कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने सोचा—काल तो ऐसा आया है, फिर भी मैं अप्रतिक्रमण धर्म में ही रहूँगा तो मेरी हानि ही होगी और अन्य साधु भी मेरा अनुकरण करेंगे। ऐसा विचार कर उन्होंने अप्रतिक्रमण धर्म त्याग कर सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया। कालास्यवेषिपुत्र मुनि पहले दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे, अब वह नियमित रूपसे प्रतिक्रमण करने लगे। पहले प्रतिक्रमण करना उनके लिए आवश्यक नहीं था, अब आवश्यक हो गया।

प्रश्न हो सकता है—क्या गौतम जैसे ज्ञानी महर्षि को भी प्रतिक्रमण करना पड़ता था? और उन्हें भी क्या दोष लगता था? इसका उत्तर यह है कि यों तो उस समय भी अनेक वीतराग महात्मा थे, लेकिन जबतक वह छद्मस्थ थे, उन के लिए प्रतिक्रण करना आवश्यक था। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

अर्थात्—उत्तम पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही आचारण साधारण लोग भी करते हैं। अतएव श्रेष्ठ पुरुष, साधारण लोगों का खयाल करके ही आचारण करते हैं।

आजकल क्रिया में ढ़ीलापाल आ गया है। इसका कारण यह है कि कई लोग कहने लगे हैं कि मन को शुद्ध रक्खो, फिर बाह्य क्रिया करो या न करो। इस प्रकार कहकर वे बाह्य क्रिया को एक प्रकार से व्यर्थ बतलाते हैं। मन शुद्ध है या नहीं, यह बात ज्ञानी के सिवाय और कौन जान सकता है? ऐसा कहने वालों का मन शुद्ध होगा या नहीं, यह कौन कह सकता है? मगर ऐसा कहने वाले लोग क्रिया को अनावश्यक बतलाकर जनता को धोखे में डालते हैं। उनकी देखा देखी और लोग भी बाह्य क्रिया छोड़ बैठे हैं। इस प्रकार बाह्य क्रिया के कारण जो शुद्धि होती थी, वह भी रुक गई है। केवल मानसिक शुद्धि का आश्रय लेकर बाह्य क्रिया को अनावश्यक बताने वाले लोगों के ही कारण आज क्रिया में शिथिलता आ रही है।

काल के अनुसार की जाने वाली क्रिया से ही ठीक काम होता है। पहले धार्मिक शिक्षा के लिए किसी विशेष प्रबंध की आवश्यकता नहीं होती थी। साधुओं से ही लोग सामायिक–प्रतिक्रमण सीख लिया करते थे। उस समय लौकिक शिक्षा भी आज के समान बढ़ी हुई नहीं थी। अब लौकिक शिक्षा इतनी अधिक बढ़ गई है कि लोग उससे बहुत प्रभावित हो जाते हैं और धार्मिक शिक्षा को भूल जाते हैं। इस कारण धार्मिक शिक्षा के लिए भी विशेष प्रबंध की आवश्यकता हो गई है।

यदि लौकिक शिक्षा के बढ़ जाने पर भी धार्मिक शिक्षा का विशेष प्रबंध न किया जाय तो धार्मिक शिक्षा को हृदय में जरा भी स्थान नहीं रहेगा। इसलिए आजकल इस बात का बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है कि धार्मिक शिक्षा का अधिक से अधिक प्रचार हो। यदि धार्मिक शिक्षा की ओर से सावधान न रहे तो लौकिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा को दबा लेगी और फिर धार्मिक शिक्षा का कोई प्रभाव न होगा। अगर काल को न देखकर और उसके प्रभाव से बचने का उपाय न करके प्राचीनता को ही लिए बैठे रहोगे तो फिर यह काल डुबा देगा। इसलिए प्रत्येक काम विवेक से करो। गफलत से बचना चाहिए। आपको गफलत से जगाने के लिए ही कहते हैं:—

गाफ़िल! तू देख क्या तेरा स्वरूप है।
नजदीक यार है मगर नजर न आता है।
गफ़लत से जाग देख क्या लुफ्त की बात है।
दुई की गर्द से चश्म की वो रोशनी गई।
महबूब के दीदार की ताकत नहीं रही।
इस वास्ते दुनिया के फंद में फंसाता है॥

यह आध्यात्मिक बात है। इसमें गाफ़िल उसे कहा है जो 'मैं-तू' के द्वैत की गफ़लत में पड़ा हुआ है। इस द्वैत को भूलना ही गफ़लत से जागना है। तू बाहर परमात्मा को ढूँढ़ता फिरता

है पर वह तो नजदीक ही है। जो नजदीक है उसे खोजते फिरना वैसी ही बात है कि 'काँख में छोरा और गाँव में पुकार।'

बाहर का खोजना छोड़ कर अपने पास ही खोजो तो वह मिलेगा। आज लोग ऐसी गफ़लत में पड़े हुए हैं कि धर्म को निमित्त बना करके भी अपनी नासमझी के कारण कर्म बंध करते हैं। तात्पर्य यह है कि काल के अनुसार, सावधान होकर धर्म का उद्योत करने में आपका और जगत् का कल्याण है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने विचार किया—भगवान महावीर ने काल के अनुसार जो धर्म बतलाया है; वह उत्तम है। उसे स्वीकार करने में कल्याण है। यह सोचकर उन्होंने सम्प्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया। अब वह दोनों समय नियमित रूप से प्रतिक्रमण करने लगे। उन्होंने अपनी नियमित प्रतिक्रमण नहीं करने की परम्परा से चिपटे रहना उचित नहीं समझा। आज तो साधुओं को अपनी परम्परा छोड़ना कठिन मालूम होता है और कोई-कोई तो यह भी कहते हैं कि 'वे अमुक कार्य करें तो हम भी करें। ऐसा कहना भी क्या कोई धर्म का मार्ग है! यह तो देखा देखी मात्र है। इसमें विवेकशीलता नहीं है। परम्परा में जकड़े लोग ही ऐसा कहते हैं। ज्ञानी के लिए धर्म का मार्ग सदा ही खुला हुआ है। धर्म के काम में आत्मा को स्वतंत्र ही रखना चाहिए।

जिसे सत्य समझा है उसे स्वीकार करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। अगर उससे डिगाने के लिए देवता भी प्रयत्न करे तो भी नहीं डिगना चाहिए। इस तरह की दृढ़ता रखने वाले ही उत्कृष्ट धर्म का पालन कर सकते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि स्थिर चित्त से संयम का पालन करते हुए नग्नभाव से विचरने लगे। कालास्यवेषिपुत्र मुनि जिनकल्पी नहीं थे, फिर भी वह नग्नभाव से रहने लगे। यहां यह समझ लेना चाहिए कि दिगम्बर रहने वाले ही नग्न नहीं कहलाते किन्तु अल्प वस्त्र रखने वाला भी नग्नभाव वाला कहलाता है। मर्यादित और शृंगारहीन वस्त्र पहनने को भी नग्नभाव कहते हैं। व्यवहार में देखने से भी ज्ञात होगा कि अल्प वस्त्र रखने वाले या अल्पवस्त्र पहनने वाले को नग्न कहते हैं। किसी गरीब आदमी ने दर्जी की दुकान पर कपड़े सीने दिये। वह गरीब फटे-पुराने कपड़े पहने हुए है, नग्न नहीं है। फिर भी वह दर्जी से कहता है-हमारे कपड़े जल्दी सीदे, हम नंगे फिरते हैं। वह गरीब आदमी नग्न न होने पर भी अपने को नग्न कहता है। इसका कारण यही है कि उसके पास अल्प वस्त्र है। इसी प्रकार मर्यादा से अधिक वस्त्र न रखने के कारण मुनि को नग्नभाव में रहना कहा है मर्यादित वस्त्रों पर भी उन्हें ममत्व नहीं होता। नग्न कहने का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि भगवान् कहते हैं—हे मुनियों ! मैंने तुम्हें नग्नभाव में रहना

कहा है। इसलिए ऐसा न हो कि तुम वस्त्र का पोटला बांधकर ममता करो।

पूज्य श्री हुक्मीचंदजी महाराज के लिए कहा जाता है—

हुक्म मुनि दीपे जग माहीं,
शूरवीर हो रह्या मुनीश्वर तपस्या के माहीं।
बेले बेले करे पारणा जाव जीव ताईं,
एक पछोड़ी ओढ़े बारा मास माहीं॥

हुक्म मुनि बेले-बेले पारणा करते थे और तप से दुर्बल होने पर भी एक ही वस्त्र ओढ़ने के लिए रखते थे। उसे भी बारह महीने तक चलाते थे। ऐसे मुनि को नग्नभावी न कहा जाएगा तो क्या वस्त्र का पोटला रखने वाला कहा जाएगा? जो साधु अल्प वस्त्र और अल्प मूल्य के वस्त्र रखकर उनसे भी ममत्व नहीं करते, उन्हें भी नग्नभावी कहा गया है। कालास्य-वेषिपुत्र का नग्नभाव भी ऐसा ही था।

कालास्यवेषिपुत्र ने नग्नभाव क्यों धारण किया था? जिस मतलब से उन्होंने संयम लिया था, उसकी सिद्धि के लिए ही नग्नभाव धारण किया था। यह बात नहीं है कि लोक-दिखाने के लिए या वस्त्र न मिलने के कारण उन्होंने नग्नता धारण की हो, उन्होंने मोक्ष प्राप्त करने के लिए नग्नभाव धारण किया था। उन्होंने नग्नभाव से मोक्ष की आराधना की।

केवल नग्नभाव तो वह दरिद्र भी रखता है, जिसे वस्त्र नहीं मिलते। लेकिन इस तरह के नग्नभाव से मुक्ति नहीं मिलती। नग्नभाव की सार्थकता तभी है, जब उसके साथ मुंडभाव हो। मुंडभाव का मतलब मस्तक मुंडाना है, लेकिन सिर्फ सिर सफाचट करा लेने से काम नहीं चलता। सिर मुंडाने वाले बहुत हैं, परन्तु उन सब को मोक्ष नहीं मिलता। शास्त्र में दस प्रकार के मुंडनभाव बताये हैं। पांच इन्द्रियों को और चार कषायों को मूंड़ लेने (जीत लेने) के पश्चात् सिर का मुंडन होना ही सच्चा मुंडभाव है। इसी प्रकार का मुंडभाव मुक्ति में सहायक हो सकता है।

प्रश्न होता है—इन्द्रियों का और कषायों का मुंडन करना तो ठीक है, लेकिन केशों ने क्या अपराध किया है, जो उनका मुंडन किया जाता है? जो मनुष्य इन्द्रियों और कषायों को मूंड़े बिना सिर का मुंडन करता है, वह तो सिर की खुजली मिटाने के लिए सिर मुंडवाता है। लेकिन कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने लिए जो मुंडभाव बताया है वह सिर की खुजली मिटाने के लिए नहीं है। इस मुंडभाव में तो सिर के केश उखाड़ने पड़ते हैं।

कहा जा सकता है कि साधु दयाशील होता है, फिर अपने केश उखाड़ कर वह अपने आपको कष्ट में क्यों डालता

है ? इसका उत्तर यह है कि दया रखने में बहुत कष्ट भोगने पड़ते हैं। बिना कष्ट उठाये दया नहीं हो सकती। माता कष्ट न उठाती तो आपकी दया नहीं कर सकती थी और उस दशा में आपकी रक्षा भी नहीं हो सकती थी। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कष्ट सहने पर दया नहीं होती। दया के लिए ही बाल उखाड़े जाते हैं। इसी लिए मुंडभाव धारण करना पड़ता है।

बहुत से लोग बाल रखाकर उनमें तेल आदि लगाते हैं, लेकिन साधु ऐसा नहीं कर सकते। वे तेल नहीं लगा सकते और उस दशा में बालों में जीव-जन्तु पैदा हो जाना स्वाभाविक है। इस हिंसा से बचने के लिए मुंडभाव स्वीकार करना आवश्यक है।

आज हिन्दुओं की चोटी सिर के बीच से आगे की ओर आ गई है। ऐसा करने वाले लोग बाबू बनना चाहते हैं। लेकिन होता यह है:—

न ख़ुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे।

ऐसे लोग न बाबू हो पाते हैं, न हिन्दू ही रह जाते हैं। कहीं के भी नहीं रहते। हिन्दुओं ने भगवान् ऋषभदेव की चोटी धारण की है। सिद्धान्त में कहा है कि अन्य तीर्थंकरों का तो

पंचमुष्टि लोंच है लेकिन भगवान् ऋषभदेव का चार मुष्टि लोंच है। भागवान ऋषभदेव चार मुष्ठि लोंच करके जब पाँचवी मुष्टि लोंच करने लगे तब इन्द्र ने प्रार्थना की—आपकी सन्तान के लिए आपका कुछ चिह्न चाहिए। इसलिए आप एक मुष्टि बाल रहने दीजिए। इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान ने एक मुष्टि बाल रहने दिये, जो चोटी नाम से कहलाए। इस प्रकार चोटी भगवान् ऋषभदेव की सन्तान का चिह्न है। यह हिन्दुओं की पहचान है। कभी मुसलमान और हिन्दु शामिल होकर लड़े और मारे गये तब उन मरे हुए लोगों की पहचान चोटी के होने न होने से ही होती थी। जिसके चोटी होती उसे हिन्दू समझकर हिन्दू ले जाते। जिसके चोटी न होती उसे मुसलमान मान कर मुसलमान उठा ले जाते।

आज कुसंस्कार के कारण लोग चोटी कटा डालते हैं। लोकमर्यादा की स्थापना करने वाले सबसे पहले राजा ऋषभदेव हैं। उन्होंने जो मर्यादा बनाई है वह आपके कल्याण के लिए ही है। फिर उनकी बताई हुई चोटी को, रखने में कोई हानि न होने पर भी, कटवा डालना कैसे उचित कहा जा सकता है।

मुनि को मुण्डभाव धारण करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि केशों का स्वभाव बढ़ने का है। अगर बढ़े हुए

केशों का यत्न न किया जाय तो उनमें जीव उत्पन्न होते हैं। अगर तेल आदि लगाया जाय तो शृंगार की वृद्धि होती है। इस कारण भगवान् ने केशलोंच करना बतलाया है।

कहा जा सकता है कि केशों का लोंच करने के बदले अगर उस्तरा से बाल बना डाले जाएँ तो क्या हानि है? ऐसा करने से कष्ट नहीं होगा। मगर यह उपाय करने से प्रथम तो उस्तरा रखना पड़ेगा, दूसरी बात यह है कि उस्तरे से बने हुए बाल बहुत बढ़ते हैं। तीसरे उस्तरे से बाल बनवाने वाले के सिर में तो उस्तरा लगने से घाव के चिह्न भी देखे जा सकते हैं, लेकिन लुंचन करने से घाव नहीं हो सकता। चौथी बात यह है कि केशलुंचन करना वीरता का काम है। एक बार थोड़ी देर के लिए भले ही कष्ट हो मगर अन्त में तो आनन्द ही होता है।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने जिस प्रयोजन की पूर्ति करने के लिए मुंडभाव धारण किया था, वह प्रयोजन पूर्ण हो गया।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने पाँच महाव्रत का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया और अनेक वर्षों तक संयम का यतना के साथ पालन किया। यहाँ यह भी बतलाया गया है कि यह मुनि किस प्रकार अप्रमादी बने और किस तरह संयम पालने के लिए किन-किन बातों का यत्न किया? शास्त्र का यह वर्णन हमारे लिए भी मार्गदर्शक है।

नग्नभाव और मुण्डभाव का वर्णन किया जा चुका है। उन्होंने मोक्ष रूप प्रयोजन को साधने के लिए नग्नता और मुण्डता धारण की थी, इसलिए वह अन्तिम श्वास तक अपना यह कार्य करते रहे। यों तो बहुत से लोग संसार में नग्नभाव और मुण्डभाव रखते हैं, लेकिन इस प्रकार का नग्नभाव और मुण्डभाव और है तथा मुनि का नग्नभाव और मुण्डभाव कुछ और है।

आगे बतलाया गया है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि स्नान नहीं करते थे। उन्होंने अस्नान व्रत भी धारण किया था।

आपको यह मालूम ही है कि साधु स्नान नहीं करते। दूसरे लोग हम साधुओं के विषय में यह कहते हैं कि जैन साधुओं में और-और बातें तो ठीक हैं, लेकिन स्नान न करने की बात अच्छी नहीं है। दूसरे लोग कहें तो कहें, पर कोई जैन कहलाने वाले भी हमारे ऊपर यह आक्षेप करते हैं कि हम नहाते-धोते नहीं हैं। कोई कुछ भी कहे, मगर शास्त्र में कहा है कि मुनि मोक्ष के लिए स्नान नहीं करते।

प्रश्न हो सकता है, क्या मुक्ति के लिए स्नान न करना उचित है? पर इसका समाधान तो सरल ही है। उचित न होता तो वह स्नान करते क्यों नहीं? स्नान करने में कोई कष्ट नहीं होता, बल्कि स्नान न करने में ही कष्ट होता है। स्नान

करने से तो और आराम मिलता है। साफ़-सुथरे हो जाते हैं और तबीयत हल्की हो जाती है। अगर साधु को स्नान करना वर्ज्य न होता तो साधु स्नान क्यों न करते? स्नान करने में कष्ट न होने पर भी, बल्कि आराम मिलने पर भी साधु स्नान नहीं करते, इसका कोई विशेष कारण तो होना ही चाहिए। विशेष कारण के बिना स्नान छोड़ने में हर्ज ही क्या था? यह बात तो थोड़ी बुद्धि वाला भी समझ सकता है।

साधुओं के लिए स्नान करना निषिद्ध क्यों है, इसका कारण बताते हुए कहा है:—

स्नानं मदद्दर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्।
तस्मात् कामं परित्यक्तुं, न यः स्नाति दमे रतः॥

स्नान, मद और दर्प उत्पन्न करने वाला है और स्नान करना काम का प्रथम अंग है। स्नान करना शृंगार का प्रथम अंग माना गया है। अगर स्नान करना कामांग न होता तो इसे शृंगार में क्यों गिनते? शृंगार में यह सब से पहला है और कामत्यागी को शृंगार करना निषिद्ध है। साधुओं ने शृंगार का त्याग किया है, इसलिए वह स्नान भी नहीं करते। अगर काम संबंधी अन्यान्य बातें त्यागकर स्नान को रहने दिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि काम का सर्वथा त्याग कर दिया है। एक रुपये में सोलह आने होते हैं। सोलह आनों में से एक आने में भी

कुछ शक्ति तो है ही। अगर कोई पुरुष रुपया छोड़ दे मगर एक आना रक्खे तो उसके लिए यही कहा जायगा कि वह पूर्ण त्यागी नहीं है। इसी प्रकार स्नान सोलह श्रृंगारों में पहला है। स्नान रखने पर भी यही कहा जायगा कि स्नान करने वाले ने काम को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ा है। ऐसी अवस्था में स्नान न करके काम का सर्वथा त्याग करने में हानि क्या है? स्नान करने से मद भी होता है। तात्पर्य यह है कि काम का पूर्ण रूप से त्याग करने और इन्द्रियदमन करने के लिए साधु स्नान का त्याग करते हैं।

साधु के लिए स्नान करना मना है, इसका यह अर्थ नहीं कि गृहस्थ के लिए भी स्नान करना निषिद्ध है। गृहस्थ ने काम संबंधी और बातें नहीं छोड़ी हैं। उसने विवाह करना और श्रृंगार करना नहीं छोड़ा है। ऐसी दशा में केवल स्नान न करके साधु का अनुकरण कैसे कर सकता है? हां, गृहस्थ जिस समय धर्मक्रिया में हो, उस समय उसके लिए भी अस्नान में रहना उचित है। किन्तु साधारणतया साधु के लिए स्नान का निषेध होने का मतलब गृहस्थ के लिए स्नान का निषेध होता नहीं है।

संयम पालन करने वाले साधु, काम को सर्वथा त्यागने के लिए स्नान नहीं करते, यह बात शिवपुराण में भी कही है। स्नान से काम की वृद्धि और उत्पत्ति होती है। इस लिए साधु

लोग काम से बचने के लिए स्नान नहीं करते और शरीर के
प्रति ममत्व रहित होते हैं। साधु स्नान नहीं करते, यह बताने के
लिए ही शास्त्र में कालास्यवेषिपुत्र मुनि के विषय में यह कहा गया
है कि वे अस्नानव्रत-धारी थे।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि अस्नान रहने के साथ ही दन्त
धावन भी नहीं करते थे। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्नान और
दन्तधावन का निषेध किया गया है। यह बात सौरिपुराण में भी
कही है। मगर जिन्हें ब्रह्मचर्य का ही पालन नहीं करना, वे इन
बातों को भूल रहे हैं। डाक्टरों के मत से भी स्नान करना
हानिप्रद है। उनका कथन है कि स्नान करने से चमड़े की
अघात सहन करने की शक्ति मारी जाती है। चमड़ी में बाहर
के आघातों को सहन करने का गुण है। स्नान करने से उसमें
कमी हो जाती है। मल कर स्नान करने से रक्त गर्म हो जाता
है, जिससे कामादिक विकार उत्पन्न होते हैं।

दाँत साफ करने के विषय में डाक्टर कहते हैं–'दाँत गंदे
होने से मुह में मवाद पैदा हो जाता है। वह पेटमें जाकर हानि
उत्पन्न करता है और रोगों का जनक होता है। इसलिए दाँत
साफ रखना आवश्यक है।' इस पर आप यह कह सकते हैं कि
डाक्टरों का यह मत है और शास्त्र में मुनियों के लिए दन्त–
धावन का निषेध है। तो क्या दाँत साफ न करके रोगी बनना

चाहिए ? मगर रोगी होने की मनाई तो भगवान् ने भी की है। शास्त्र में कहा है-

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमायेणं, रोगेणालस्सएण य ॥

इस प्रकार रोगी को धर्म के अयोग्य बतलाया है और दांत साफ न रखने से रोग होता है। इसलिए दातौन तो करना ही चाहिए।

दातौन के विषय में जो दलील दी गई है, वही स्नान के विषय में भी दी जा सकती है। कहा जा सकता है कि स्नान रोग से बचाता है।

इस प्रकार रोग की शक्ति को तो समझते हैं लेकिन ब्रह्मचर्य की शक्ति आपको मालूम नहीं है। इसी कारण आप रोग की शक्ति को रोकने के लिए स्नान और दन्तधावन को आवश्यक समझते हैं। मगर पूर्ण ब्रह्मचारी के पास रोग फटक ही नहीं सकते। लोग भूख न होने पर भी खाते हैं। बिना भूख के खाने के लिए ही तरह-तरह के मसालों का उपयोग किया जाता है। लेकिन ब्रह्मचारी साधु सब से पहले खाने-पीने पर ही नियंत्रण रखते हैं। ब्रह्मचर्य की नौ वाड़ों में सरस भोजन और अधिक भोजन करने की मनाई की गई है। ऊनोदर तप का विधान भी इसीलिए किया गया है। जब अधिक नहीं खाया जायगा तो

दाँतों में रोग भी नहीं होगा । इस पर भी कदाचित् रोग हो जाय तो उसके शमन के लिए उपवास करने का विधान किया गया है । दाँतों का कैसा भी रोग क्यों न हो, उपवास से मिट सकता है । मेरे मसूड़े फूल जाते थे, तब उपवास कर लेता था । उपवास करने से मसूड़ों की फूलन न जाने कहाँ गायब हो जाती थी । दाँतों के रोग पेट की खराबी से होते हैं और तप का शरण लेने से तमाम रोग मिट जाते हैं ।

अगर तप से सब रोग मिट जाते हैं तो सदा कुछ न कुछ तपस्या करने वाले साधुओं को रोग क्यों होते ह ? इसका उत्तर यह है कि नियमित खान-पान होने पर तो रोग होते ही नहीं हैं, लेकिन साधुओं को कभी-कभी विवश होकर नियम के विरुद्ध खाना पीना पड़ता है । साधुओं का खान-पान श्रावकों पर निर्भर है और श्रावकों के यहाँ ऐसा भोजन बनता है कि ब्रह्मचर्य के अनुकूल भोजन मिलना कठिन हो जाता है । इसके सिवा साधु आप लोगों में से ही निकल कर होते हैं । हमारी आदत आपकी-सी ही थी । उसे पूर्ण रूप से पलटना कठिन हो जाता है । इन सब कारणों से खान-पान का नियम भंग होता है और नियम-भंग से रोग होते हैं । जब रोग होते हैं तब दवा भी लेनी पड़ती है, लेकिन यह अपवाद है । यह अपवाद हमारी कमजोरी से ही होता है अगर हम नियमपूर्वक रह सकें तो रोग हो नहीं सकते ।

इसमें चाहे कमजोरी हो मगर कालास्यवेषिपुत्र मुनि सब नियम पालते थे। उन्हें रोग का कोई भय नहीं था।

अस्नान और अदन्तधावन व्रत का कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने भलीभाँति पालन किया। इसका उत्कृष्ट फल पूर्णावस्था प्राप्त करना है। यह फल उन्हें प्राप्त हुआ।

रोग से बचने के लिए खाने-पीने का नियम रखना आवश्यक है और ज्यादा तो कभी खाना ही नहीं चाहिए। आप लोग भोजन की अधिक तैयारी इसीलिए कराते हैं कि जिससे अधिक खाया जाय। पहले आवश्यकता से अधिक खाते हैं, फिर ऊपर से चूर्ण आदि खाते हैं। लेकिन ऐसा खाना रोग और विकार को आमंत्रण देना है इसलिए अधिक खाने से बचना चाहिए और विधवाओं को तो विकारवर्द्धक भोजन से खास तौर पर बचना चाहिए।

आपके लिए यह समय अपूर्व कल्याणकारी है। अतएव आपको शारीरिक, मानसिक खराबियाँ दूर कर देनी चाहिए, जिससे आत्मा का कल्याण हो। आप सोचते होंगे—यह संसार ही सुख पहुँचाने वाला है। और यही मान कर संसार के काम में किसी तरह का विघ्न आने पर दुःख मानने लगते हैं। मगर आप यह क्यों नहीं देखते कि बाहर का दुख तो भीतर के दुख से है। भीतर का दुख मिट जाय तो बाहर का दुख रह ही

न जायगा । कहा है—

> खयाल आता है मुझे दिल जान तेरी बात का,
> फिकर तुझको है नहीं आगे अँधेरी रात का ।
> जोबन तेरा कल ढल जायगा दरियाव है बरसात का,
> और कोई न खायगा उस रोज तेरे हाथ का ।
> जीना तुझे दिन चार है तेरे कजा सिर पर खड़ी,
> हंस बोल ले जग में भलाई भलाई ही है बड़ी ।
> तू तो निकल जायगा कल रह जायगी मिट्टी पड़ी,
> नित हरी रहती नहीं नादान फूलों की छड़ी ॥

प्रकृत बात यह है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि अस्नान और
अदन्तधावन का व्रत पालन करते थे । कालास्यवेषिपुत्र अनगार
अछत्र भी रहते थे । वह किसी भी समय छाता नहीं लगाते
थे । कितनी ही धूप पड़े या वर्षा हो, साधू छाता नहीं लगाते ।
छत्र धारण न करना साधु का धर्म है । छत्र से उपाधि भी
बढ़ती है और शारीरिक हानि भी होती है । लोग शरीर पर धूप
सहना भले ही दुःख समझते हों, लेकिन ज्ञानी इससे नहीं घब-
रोत । क्यों कि धूप शरीर का नाश नहीं करती । वैसे तो अति
सब जगह हानि करती है, लेकिन साधारणतया सूर्य की धूप से
शरीर को ताजा खून मिलता है । शरीर में धुप के जो परमाणु
घुसते हैं वे जीवन देते हैं और शक्ति बढ़ाकर रोग से बचाते हैं ।
प्रत्यक्ष देखो, उस वृक्ष का विकास वैसा अच्छा नहीं होता जिसे

धुप न लगती हो। इसके विरुद्ध जिस वृक्ष को धूप लगती है। उसका विकास अच्छा होता है। जैसे वृक्ष की वृद्धि और विकास में धूप की जरुरत है उसी तरह मनुष्य के लिए भी जरुत है। संसार के लोग प्रकृति से लड़ाई करके प्रकृति को रोकना चाहते हैं, लेकिन साधु प्रकृति से लड़ाई नहीं करते और इसी कारण विहार के समय वे छत्र आदि नहीं लगाते। छत्र का उपयोग न करने से उनमें तेज बढ़ता है। सूर्य की किरणें लगने से तेज की वृद्धि होती है यह बात दूसरी है कि जिसका जैसा तेज है, उसका वैसा ही तेज बढ़े। सूर्य की किरणों से आपके पेड़ में आपके फल लगते हैं और आम्र वृक्ष में आम्र फल लगते हैं। चोर को चोर की-सी शक्ति मिलती है और साधु को साधु की-सी शक्ति मिलती है।

छत्र धारण करने से एक हानि और है। वह यह कि छत्र लगाने से अहंकार बढ़ता है। इस अहंकार से बचने के लिए भी साधु छत्र नहीं लगाते।

प्रश्न होता है कि जब सामान्य साधु को भी छत्र धारण करने की मनाई है तो अरिहंत भगवान्, जो साधु ही हैं, तीन छत्र के धारक क्यों कहलाते हैं? अष्ट प्रातिहार्य का वर्णन करते हुए कहा है—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च।
भामंडलं दुन्दुभिश्चातपत्रं, अष्ट प्रातिहार्याणि जितेश्वराणाम्।

बड़े-बड़े आचार्यों ने अरिहन्त भगवान् का गुणगान करते हुए कहा है:—

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्क कान्त,
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकर जाल विवृद्ध शोभम्,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! चन्द्रमा के समान सुन्दर और सूर्य की किरणों को भी स्थगित कर देने वाले तीन छत्र आपके त्रिलोकीनाथपन को प्रकट करते हैं। आपके वह तीनों छत्र आकाश में रहते हैं और आपके ऊपर छाया किये रहते हैं। उनमें मोतियों की झालर लगी हुई है, जिनसे उनकी शोभा और भी बढ़ गई है। वह तीन छत्र प्रकट करते हैं कि भगवान् त्रिलोकीनाथ हैं।

इस प्रकार जब अरिहंत भगवान् के भी छत्र होते हैं, तो उनके साधुओं के लिए छत्र लगाना क्यों मना है ?

भगवान् के इन छत्रों का आश्रय लेकर ही यतियों श्रीपूज्यों ने भी छत्र लगाना आरंभ कर दिया। वे कहने लगे—जब भगवान् के छत्र थे, तब हम उनकी गादी पर बैठकर छत्र क्यों न लगावें? लेकिन हमें यह देखना चाहिए कि भगवान के छत्र का उदाहरण लेकर साधुओं के लिए छत्र लगाना ठीक है। तो फिर गौतम और

सुधर्मा आदि मुनियों ने भी छत्र क्यों नहीं लगाया ? उन्हें अछत्र कहा गया है, फिर भगवान् के छत्र का नाम लेकर छत्र लगाना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

अब यह भी देखना चाहिए कि भगवान् अरिहंत के छत्र क्यों थे ? इस संबंध में पूर्वाचार्यों का कथन है कि तीर्थंकर पद किसी का दिया हुआ नहीं है। वीस स्थानकों के सेवन करने से यह पद प्राप्त होता है। भगवान् महावीर ने कहां-कहां और कैसा-कैसा तप किया था, इसके लिए कहा गया है कि उन्होंने कौटिल्य मुनि के भव में एक करोड़ वर्ष तक मास-मास खमण का तप किया था। फिर नन्द राजा के भव में लाख वर्ष तक मास-मास खमण तप किया था। इस प्रकार वीस बोलों में उत्कृष्ट रसायन आने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति हुई। उनके लिए कहा है—

पूरव भव वर थानक तप करि, जेणे बांध्यो जिन नाम।
चौसठ इन्द्र-पूजित ते जिन वर करिये तास प्रमाण।
रे भवियन ! सिद्धचक्र पद वन्दो ॥

इस तरह का तप आदि करने के कारण वह तीर्थंकर हुए हैं और छत्र धराते हैं। वे छत्र धराते हैं इसी तरह चौसठ इन्द्र उनकी सेवा करने के लिए भी आते हैं लेकिन उनका उदाहरण लेकर दूसरे जो लोग छत्र धराते हैं, उनकी सेवा करने के लिए कितने इन्द्र आते हैं ? इसके अतिरिक्त तीर्थंकर तीन ज्ञान सहित उत्पन्न

होते हैं, अतः उनके सब काम नियमित होते हैं। कितने दिन घर पर रहना, कब दीक्षा लेना आदि सब काम समय पर ही होते हैं। क्या और किसी छत्र धारण करने वाले के काम भी इसी तरह नियमित हो सकते हैं ? गौशालक ने भी आर्द्रकुमार से इसी तरह कहा था कि महावीर छत्र धराते हैं। उसके इस कथन का जो उत्तर दिया गया उसका तथा इस संबंध की अन्य बातों का वर्णन सूयगडांग सूत्र में है।

तीर्थंकर जब केवल ज्ञानी होते हैं तब छत्रादि स्वयं प्रकट होते हैं। केवलज्ञानी होजाने पर भी पुण्य का जो फल भोगना शेष रह गया, उसके कारण ही छत्रादि प्रकट होते हैं। लेकिन भगवान् को छत्र की चाह नहीं होती। उनके पुण्य के प्रताप से ही वह छत्रादि प्रकट होते हैं, जिससे सारा जग यह जानता है कि यह छत्रादि तप का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर भगवान् किसी का दिया छत्र धारण नहीं करते। किसी का दिया छत्र धारण करने से तो धारण करने वाला बड़ा नहीं कहलाता किन्तु देने वाला ही बड़ा कहलाता है। आज भी साधु यदि विहार कर रहा हो और कोई बादल का टुकड़ा आकर उस पर छाया कर दे तो साधु को दोष नहीं लगता हाँ, घामसे बचने के लिए वह कृत्रिम छाया करे तो दोष होगा। जैसे अकृत्रिम छत्र भगवान् के ऊपर था, उसी तरह का यदि किसी के ऊपर प्रकट

हो जाय तो हम उसे साधु ही नहीं किन्तु त्रिलोकीनाथ मानने को तैयार हो जाएँ।

साधुजन छाया आदि के लिए कृत्रिम छत्र से बचे रहें, यह बताने के लिए ही शास्त्र में कहा गया है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि अछत्र रहते थे। वे मुक्ति प्राप्त करने के लिए अछत्र रहते थे। शास्त्र के इस वर्णन से समझना चाहिए कि जो मुक्ति का इच्छुक होगा वह छत्र धारण नहीं करेगा। छत्र न लगाना जैन साधु की बाह्य पहचान भी है। आप किसी को छाता लगाये देखकर सरलता से जान सकते हैं कि यह जैन साधु नहीं है। जो जैन साधु होगा, वह छाता नहीं लगाएगा।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि के लिए आगे कहा गया है कि वे अनुपानह रहते थे अर्थात् जूता नहीं पहनते थे। वे चमड़ा, रबर, वस्त्र आदि किसी भी चीज का बना हुआ जूता नहीं पहनते थे। आज कई साधु कहलाने वाले भी कपड़े का जूता पहन कर कहते हैं कि इनसे जीव थोड़े ही मरते हैं! फिर इन्हें पहनने में क्या हानि है? उन्होंने यही समझ रक्खा है कि जूता पहनना सिर्फ इसीलिए मना है कि उससे जीव मरते है! लेकिन सिर्फ जीव हिंसा से बचने के लिए ही जूता पहनने का निषेध नहीं है, वरन् और भी अनेक दृष्टियों से निषेध है।

पहली बात तो यह है कि जूता पहनना बन्धन में पड़ना है। जूता पहनने वाले को किसी समय जूता न मिले तो कितना

कष्ट होगा ? इसके अतिरिक्त सरलता जूता पहनने से रहती है, या जूता न पहनने से, यह बात इस समय देखो जब भागने का काम पड़े। किसी चोर आदि के आने पर आपको भागना पड़े तो आप जूता पहने हुए ठीक तरह से भाग सकते हैं या बिन जूता ! इस प्रकार वास्तव में जूता पहनने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी लोग जबर्दस्ती जूता पहन कर अपनी शक्ति को रोकते हैं। रही कांटा लगने की बात, सो आप जूते के भरोसे बेफिक्र हो जाते हैं, इसलिए देखकर नहीं चलते। और इसी आदत के कारण जूता पहनने पर आपको भले ही कांटे न लगते हों, लेकिन साधु तो ईर्या समिति से चलते हैं। उन्हें जूता न पहनने के कारण कांटे कैसे लग सकते हैं।

जूता पहनना शारीरिक दृष्टि से हानिकारक है। इस विषय के अनुभवियों का कथन है कि जूता पहनने से पैर में जो पसीना होता है, वह बहुत दुर्गंध वाला होता है और हवा न लगने के कारण वह सूख नहीं पाता। अतएव वह फिर पैर में ही प्रविष्ट होता है और सिर तक उसका असर पड़ता है। परिणामतः रोग होते हैं। खुले पैर रहने वाले के पैर में पसीना नहीं होता। कदाचित् होता है तो हवा लगने से सूख जाता है। वह पैर में प्रविष्ट नहीं होता।

जूता पहनने से एक हानि और भी है। वैज्ञानिकों का कथन है कि पृथ्वी में एक तरह की बिजली होती है। नंगे पैर

रहने से वह बिजली शरीर को लाभ पहुँचाती है। जूता पहनने वाले उस लाभ से वंचित रहते हैं। पृथ्वी की बिजली न मिलने के कारण जैसा चाहिए वैसा स्वास्थ्य नहीं रहता। नंगे पैर रहने में लाभ ही है, मगर माता पिता इस बात को न समझ कर बच्चे को मोजे, जूते आदि पहनाकर उसके पैर को इस प्रकार ढँक देते हैं कि हवा भी नहीं लगने पाती। इस प्रकार माता-पिता अपने बच्चे को खुली हवा से वंचित रखकर उसका स्वास्थ्य खराब करते हैं। अगर जूता पहनने से कोई वास्तविक लाभ होता तो साधु को जूता पहनने की मनाई न होती।

जूता पहनने से अभिमान भी होता है। साधु अभिमान बढ़ाने वाली सभी चीजें त्याग चुके हैं, इस लिए जूते भी नहीं पहनते।

पहले के लोग सादे जूते पहनते थे, लेकिन आजकल 'बूट' चल गये हैं। बूट पहनने पर सादे जूतों की अपेक्षा अधिक अभिमान होता है। पहले का सादा जूता भी खुली एड़ी का होता था, जिससे पैरों में उतना पसीना नहीं आता था, जितना आजकल के जूते पहनने पर होता है। लोग उलटी प्रगति कर रहे हैं!

आजकल कतिपय साधु कहलाने वाले भी बिगड़ कर कहते हैं-अगर कपड़े के जूते पहन लिये तो क्या हानि है? यद्यपि कपड़े

के जूतों में कुछ हवा लगती रहती है, लेकिन साधु के लिए तो किसी भी प्रकार के जूते पहनने का निषेध है। चाहे उससे जीव हिंसा न होती हो, मगर परतंत्रता से बचने के लिए भी साधु जूता नहीं पहन सकता। जूता पहनने या न पहनने में मुख्य प्रश्न कीड़ी-मकौड़ी की हिंसा का नहीं है; क्यों कि साधु तो सदा ही ईर्या देखकर चलता है। अगर ईर्या समिति से न चले और जीवहिंसा हो तो भी यह विराधक माना जाता है। अगर ईर्या समिति से चल रहा हो, फिरभी अकस्मात् कोई जीव आकर पैर के नीचे दबकर मर जाय तो साधु विराधक नहीं माना जाता।

इस प्रकार जैन साधु की एक प्रकट पहचान छाता-जूता न होना है। अर्थात् जैन साधु छाता भी नहीं लगाते और जूता भी नहीं पहनते। किसी छाते या जूते वाले को देखकर आप सहज ही समझ सकते हैं कि यह जैन मुनि नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिन चीजों से अहंकार उत्पन्न होता है, उसका त्याग करना चाहिए। आपको भी अभिमान बढ़ाने वाली वस्तुओं का त्याग करना चाहिए। अभिमान त्यागने के लिए आप अपने गुरुओं की चर्या पर ध्यान दीजिए। उन्होंने अभिमान छोड़ने के लिए छाता त्यागा, जूता पहनना छोड़ दिया। आप उनके शिष्य होकर क्या तनिक भी अभिमान नहीं त्याग सकते?

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने भूमिशय्या स्वीकार की थी। शान्ति प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी दीक्षित

होकर पलंग आदि की कोमल सेज छोड़कर भूमिशय्या स्वीकार करते थे। कहा भी है—

रंग-महल में पोढ़ता कोमल सेज बिछाय।
अब सोवे वे भूमि पर कंकर गड़े तन माय।
वे गुरु मेरे उरवसो।

जो लोग फूलों की सेज पर सोते थे और फूल की एक पंखुड़ी भी ऊँची-नीची रह जाती तो जिन्हें चुभती थी, वही साधु होने पर भूमि पर सोते हैं। बल्कि फूलों की शय्या पर सोने में जितना आनन्द मानते थे, उससे भी अधिक आनन्द उन्हें भूमि पर सोने में और कंकर चुभने में मालूम होता है।

अपने आपको ढीला बनाना चाहोगे तो ढीले बन जाओगे और मजबूत बनना चाहोगे तो मजबूत बन जाओगे। मजबूत बनाने पर आत्मा वज्र के समान बन जाता है। यह बात प्रायः सभी अपने-अपने अनुभव से समझ सकते हैं।

तरावली गढ़ में एक धनवान् महाजन थे। वह अफीम खाते थे। संयोगवश किसी सरकारी जुर्ममें आगये। जेल जाना पड़ा। घर पर रहते थे तो अफीम का कसुंबा बनाकर पीते और ऊपर से कुछ खाते-पीते। लेकिन जेल में अफीम नहीं दी जाती थी। अफीम न मिलने से उनके हाड़ टूटने लगे। उन्होंने जेल के जमादार से कहा– मेरे हाड़ टूट रहे हैं। किसी भी तरह अफीम

लादो। जमादार ने कहा–आज मैं चोरी से लादूँ तो भी हमेशा कहां मिलेगी ? कदाचित् तुम्हारे घर से आती भी रही, लेकिन कभी पकड़े गये तो क्या हालत होगी ? इसलिए जिस प्रकार हो सके, अफीम को भूल ही जाओ। सेठ ने कहा–यह कैसे हो सकेगा ? बहुत पुरानी आदत है। जमादार ने कहा–बस मन को मजबूत कर लो। मन को समझालो। मन को समझा लेने से अफीम की याद भी नहीं आएगी।

सेठ ने जमादार की बात मान ली और मन मजबूत बना लिया। वह अढ़ाई या तीन वर्ष तक जेल में रहा। वहाँ के सब काम भी करता रहा, मगर फिर अफीम याद न आई। लेकिन जैसे ही जेल से छूटा और घर पहुँचा कि कहा–लाओ अफीम ! जेल में मन को दृढ़ किये रहा तो अफीम के बिना काम नहीं रुका। जेल से बाहर निकलते ही मन ढीला हो गया तो अफीम की आवश्यकता पड़ गई।

मन की दृढ़ता और शिथिलता के लिए यह उदाहरण है। जैसे जेल में उस महाजन ने मन को मजबूत कर लिया था, उसी तरह कोमल सेज पर सोने वालों ने भी मन को मजबूत बना लिया था। इसी कारण भूमिशय्या में और कंकर चुभने में भी वह आनन्द मानते थे।

आप भी उन महात्माओं की तरह मन समझाओ। मन को दृढ़ करने पर किसी प्रकार की अशान्ति नहीं रह सकती।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि भी जब घर में होंगे तो कोमल सेज पर सोते होंगे, लेकिन अब वे भूमि पर सोते हैं और कंकर-पत्थर चुभने पर आनन्द का अनुभव करते हैं।

यह शरीर पृथ्वी का बना है—पार्थिव है। इसमें मिट्टी का भाग अधिक है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—'सरीरं पाढवं हिश्रा' अर्थात् यह शरीर पृथ्वी का बना हुआ है। जब यह पृथ्वी से बना है तो पृथ्वी से ही वैर करना कहाँ तक ठीक है ?

आप साधु के लिये बढ़िया पलंग ला सकते हैं, जिस पर सोने से न कंकर-पत्थर चुभें न और किसी प्रकार की तकलीफ हो। लेकिन महात्मा सोचते हैं कि जब हम गृहस्थावस्था में थे, तब हमने पृथ्वी से वैर किया 'अपने और पृथ्वी के बीच में खाट का व्यवधान रक्खा। पृथ्वी से दूर पड़े रहे। यह पाप अब मिटाना चाहिये। जिससे शरीर उत्पन्न हुआ है और अन्त में जिसमें मिल जायगा, उससे दूर-दूर रहने की क्या आवश्यकता है ? उससे यह वैरभाव क्यों रक्खा जाय ? हमारे लिये तो 'यही रम्या शय्या' अर्थात् भूमि ही उत्तम और रमणीय शैया है। पृथ्वी ही सबसे मधुर है। संसार के समस्त मधुर पदार्थ इसी से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार का विचार करके साधु जन भूमि पर सोते हैं और कंकर-पत्थर चुभने पर आनन्द मानते हैं।

'आरोग्यदिग्दर्शन' पुस्तक में पढ़ा है कि किसी को साँप का विष चढ़ा हो और उसे मुँह खुला रहने देकर ताजा मिट्टी

में दबा दिया जाय तो विष उतर जाता है। मिट्टी साँप का विष भी खींच लेती है। साँप के विष को इस प्रकार उतारने का प्रयोग किया गया है या नहीं, यह मालूम नहीं मगर बिच्छू के विष को उतारने का प्रयोग तो किया गया है।

जिस मिट्टी में ऐसा गुण है, उस मिट्टी से वैर क्यों? साधु सोचते हैं-जिससे यह शरीर बना और पला, उसी से वैर क्यों? महात्मा पुरुष शरीर और पृथ्वी के बीच का ही पर्दा दूर करने के लिये नहीं बल्कि आत्मा और परमात्मा के बीच का पर्दा हटाने के लिये भी भूमिशयन करते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि भूमि पर सोते थे। भूमिशय्या के सिवाय वह फलकशय्या यानी पाट पर भी सोते थे।

प्रश्न हो सकता है कि सोने के लिये भूमि है तब पाट पर सोने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो कहीं की भूमि के परमाणु खराब भी होते हैं, कहीं कीड़े-मकोड़े बहुत होते हैं। उन जीवों को पीड़ा से बचाने के लिये पाट पर सोना आवश्यक हो जाता है। पहली शय्या पृथ्वी ही है; मगर सब जगह की पृथ्वी एक-सी नहीं होती। इसलिये उत्सर्ग और अपवाद-दोनों मार्ग कहे हैं। कहीं की पृथ्वी के परमाणु ऐसे बिगड़ जाते हैं कि वहाँ सोने पर निमोनिया आदि रोग हो सकते हैं। इस कारण कभी-कभी पाट पर सोना पड़ता है।

साधु फलकशय्या के सिवा काष्ठशय्या पर भी सोते हैं। विशेष तौर से गढ़े हुए काठ को फलक कहते हैं और जो काठ बिना गढ़ा होता है, उसे सोने के काम में लेना काष्ठ-शय्या है। मुनिजन बिना गढ़े, बिना छिले, काठ को भी बिछा कर सो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य के लिये कठोर शय्या बतलाई गई है। कठोर शय्या पर सोने से ब्रह्मचर्य के पालन में सुविधा होती है। कोमल शय्या ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य का घात करने में सहायक होती है।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार कभी भूमि पर सोते, कभी फलक (पाट) पर सोते और कभी-कभी काठ पर सोते थे। वे उस शान्ति को प्राप्त करने के लिये ऐसा करते थे, जिसके मिलने पर कभी अशान्ति होती ही नहीं है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ब्रह्मचर्य पालते थे। पहले जिन २ बातों का वर्णन किया गया है, वह सब ब्रह्मचर्य की रक्षा में सहायक हैं। पृथ्वी या पाट पर सोना, स्नान न करना दातौन न करना, अछत्र और बिना जूते के विचरना, यह सब ब्रह्मचर्य के लिए ही करते थे। इनसे ब्रह्मचर्य की रक्षा और वृद्धि होती है। इसी वर्णन से ब्रह्मचर्य की शक्ति का भी पता लग जाता है। मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य की शक्ति होने पर कठिन बात भी सरल हो जाती है और कठोर वस्तु भी कोमल बन जाती है।

'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य का लाभ होता है। वीर्य शरीर का राजा और सब गुण देने वाला है। वीर्यवान् पुरुष के लिए कोई वस्तु असाध्य नहीं रहती वीर्यशाली पुरुष संसार में विजय प्राप्त करता है। वीर्य हीन जिंदे भी मरे हुए हैं।

आज बहुत-से लोग ब्रह्मचर्य का महत्व भूल गये हैं। इसी कारण बालविवाह आदि की रूढ़ियां उत्पन्न हुई हैं। संसार की अधिकांश बुराइयाँ ब्रह्मचर्य का महत्व न समझने के ही कारण हैं। लोग कहते हैं—भारत गरीब और दुःखी है। उसके पास धन नहीं है। उसे खाने को नहीं मिलता मगर ज्ञानी सब दुःखों के मूल में ब्रह्मचर्य की कमी देखते हैं। ब्रह्मचर्य होने पर यह सब दुःख मिट जाते हैं। ब्रह्मचर्य की शक्ति प्रकट करते हुए कहा गया है—

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति ते॥

देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं और कहते हैं-जो काम हमसे नहीं हो सकता, वह आप-ब्रह्मचारी-करते हैं। इस प्रकार वीर्य की रक्षा करके ब्रह्मचारी बनना देवों के सामर्थ्य से भी बाहर है।

लोग देवों की पूजा करके उनके शरण में जाते हैं, लेकिन शास्त्र कहता है-तुम ब्रह्मचर्य पालो तो देव तुम्हें नमस्कार करेंगे। तुम ब्रह्मचर्य को भूल गये, इसीलिए देव का शरण लेना पड़ता है। तुम्हें देखकर देव हँसते हैं। सोचते हैं-कैसे पामर हैं यह! अगर इन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन किया होता तो हम इनके शरण में जाते और अब यह हमारे शरण में हैं!

ब्रह्मचर्य पालने के दो प्रकार हैं-व्यवहारिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य अर्थात् निश्चय नय का ब्रह्मचर्य। व्यवहारिक ब्रह्मचर्य में स्त्री का संग त्यागना पड़ता है और स्त्री संग त्यागने के साथ ही उसकी सहायता एवं संरक्षा के लिए अमुक तरहके-विकारजनक खान-पान का भी त्याग करना पड़ता है। लेकिन इस तरह का ब्रह्मचारी यह नहीं जानता कि इन सब का त्यागना कब ठीक है? यह न जानने के कारण कई तो स्वर्ग सुख को ध्येय बनाकर त्यागते हैं, कोई संसार के और अधिक सुख भविष्य में पाने के विचार से त्यागते हैं, कोई-कोई मान-सन्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने के खयाल से त्यागते हैं और कोई स्त्री-पुत्र आदि से होने वाली झंझटों से बचने के लिए त्यागते हैं। इस प्रकार के ब्रह्मचारी को शास्त्रकार 'अकाम ब्रह्मचारी' कहते हैं। मोक्ष के लिए जो ब्रह्मचर्य पाला जाता है वह सकाम ब्रह्मचर्य कहलाता है और मोक्ष के अतिरिक्त किसी भी दूसरी इच्छा से

पाला जाने वाला ब्रह्मचर्य अकाम ब्रह्मचर्य कहलाता है। अकाम ब्रह्मचर्य से चौंसठ हजार या कुछ कम-ज्यादा वर्षों के लिए कोई देव भले ही हो जाय, पर मोक्ष नहीं पा सकता। मोक्ष तो सकाम ब्रह्मचर्य से ही मिलता है।

कालास्यवेषीपुत्र मुनि सकाम ब्रह्मचर्य पालते थे और जिस प्रयोजन के लिए वह ब्रह्मचर्य पालते थे, उस प्रयोजन के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध रखने वाले सब नियमों का पालन किया।

आत्मा ब्रह्म में चरने यानी विचरने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला निश्चय-रूप ब्रह्मचर्य पालता है। आत्मा के स्वरूप में रमण करने के लिए पाला जाने वाला ब्रह्मचर्य ही सच्चा ब्रह्मचर्य है। इस तरह से ब्रह्मचर्य पालने वाले का चित्त शब्द, रूप, गंध' रस और स्पर्श की ओर जाता ही नहीं है। ऐसा ब्रह्मचारी वासना को ही मार डालता है। उसका चित्त किसी प्रकार की वासना की ओर नहीं दौड़ता। उसका चित्त निश्चल हो जाता है। कल्पना कीजिए—कोई यह निश्चय करले कि मैं जूठा नहीं खाऊंगा, तो फिर उसके सामने कैसे भी जूठे पदार्थ आवें और उनका कुछ भी न बिगड़ा हो तब भी उसका मन उन्हें खाने का नहीं होगा। वह उन पदार्थों को अखाद्य समझेगा और कुत्तों एवं कौओं का ही खाद्य सम-

भेगा। चाहे कोई उसे कितना ही मारे, पीटे, कष्ट दे, परन्तु वह जूठे पदार्थ नहीं खाएगा। उसमें व्यवहार की यह उत्तम प्रकृति है, इसीसे वह नहीं खाता। ज्ञानी पुरुष की निश्चय में ऐसी ही उत्तम प्रकृति बन जाती है। इसलिए वह सोचते हैं—'ये सांसारिक पदार्थ मेरे और दूसरों के जूठे हैं, वमन किये हुए हैं, इसलिए मैं इन्हें नहीं खा सकता।' जैसे जूठे या वमन किये हुए पदार्थ को न खाने का निश्चय करने वाले की तबीयत उन पदार्थों की ओर नहीं जाती, उसी प्रकार ज्ञानी की तबीयत भी संसार के किसी पदार्थ की ओर नहीं जाती। वे आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थों को वमन रूप मानकर उनसे विमुख ही रहते हैं। इस भावना के साथ ब्रह्मचर्य पालने वाले निश्चय ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

कालास्यवेषीपुत्र अनगार इसी तरह का ब्रह्मचर्य पालते हैं और ब्रह्मचर्य पालने के साथ ही परघर-प्रवेश भी करते हैं। वह अनगार हैं—उन्होंने अपना घर छोड़ दिया है, लेकिन भिक्षा के लिए पराये घरमें प्रवेश करते हैं। स्वमानधनी के लिए अपना घर छोड़कर पर के घर में भिक्षा के लिए जाना बहुत कठिन मालूम होता है और इस कठिनाई को न सह सकने के कारण कई आत्मा संयम-मार्ग त्याग कर भ्रष्ट हुए हैं। मगर ज्ञानीजनों का कहना है कि जिन्होंने ब्रह्मचर्य को जान लिया है और आत्मा

को संयमी बना लिया है, उन्हें भिक्षा के लिए दूसरे के घर में प्रवेश करने में लज्जा, भय या संकोच नहीं होता। संयम के लिए परगृह-प्रवेश करने में और असंयम के लिए परगृह प्रवेश करने में आकाश-पाताल का अन्तर है। चोरी, जारी आदि किसी लालसा से पराये घर में जाना संसार में भ्रमण करना है। इस से जीव संसार में अनेक योनियों में भटकता है। लेकिन संयम के लिये परकीय में प्रवेश करना संसार का अन्त करना है। वैसे तो आत्मा को शरीर-प्रवेश भी त्यागना है, लेकिन पूर्वोपार्जित कर्मों के मल को धोने के लिये पर-घर में प्रवेश करना पड़ता है। कोई किसी से कर्ज मांगता हो और देनदार उसके घर जाकर कर्ज चुका आवे तो वह इज्जतदार समझा जाता है। जिसके घर जाकर कर्ज चुकाया जाता है। वह भी चुकाने वाले को प्रतिष्ठित समझता है। इसी प्रकार महात्मा लोग कर्मरूपी कर्ज चुकाने के लिये पराये घर में प्रवेश करते हैं। वे कहते हैं—मैं खुली रीति से दूसरों के घर में जाऊँगा, फिर चाहे कोई रोटी दे या थप्पड़ मारे।

श्रावक लोग हम से कहते हैं:—

ओ स्वामी! कोई वेरावे थाने लाडुवा, ऊपर बूरा ने खीरा।
ओ स्वामी! कोई वेरावे सूखा टुकड़ा, थें तो मत होजो दिलगीर।
ओ स्वामी! अरज सुनो श्रावक तणी॥

किसी घर में जाने पर भिक्षा मिले या न मिले, मगर साधु को हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिये। उन्हें विचारना चाहिये–'मैं केवल रोटी के टुकड़े के लिये ही पर-घर में प्रवेश नहीं कर रहा हूँ। रोटी तो शरीर निभाने के लिये चाहिये। शरीर को नष्ट नहीं करना है। लेकिन नहीं मिली तो भी क्या हर्ज है। अपनी तो सहज ही तपस्या हो गई।'

साधु की परीक्षा भिक्षा में हो जाती है। जैसे व्यापारी के लड़के की परीक्षा परदेश में होती है, उसी तरह साधु की पहचान पर-घर-प्रवेश में हो जाती है। इसी अवसर पर स्त्री के परीषह का सामना करना पड़ता है। उसी समय दुराचारिणी स्त्री का कष्ट हो सकता है। क्षुधा और तृषा परीषह सहने की क्षमता भी उसी समय मालूम होती है। भूख से पेट की आँतें कुनमुना रही हैं, प्यास से गला सूख रहा है, तब समभाव से इन कष्टों को सहना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन होता है। आक्रोशपरिषह भी पर-गृहप्रवेश के समय होता है। किसी के यहां भिक्षा के लिये गये। वह कहने लगा–ऐसा हट्टा-कट्टा मुसंडा है, कमा कर क्यों नहीं खाता? भीख मांगते लाज नहीं आती? कोई-कोई तो लकड़ी आदि भी मार देते हैं सुना है कि पंजाबी साधु केशरीसिंहजी एक सिख के घर भिक्षा के लिये गये। वे उसके घर में प्रवेश कर रहे थे कि उसे बड़बड़ाते

सुनकर लौट पड़े। यद्यपि वे वापस लौट पड़े थे, फिर भी उस सिख ने उन्हें कुल्हाड़ी मार दी। यह बात अलग है कि संयोग वश वे कुल्हाड़ी से बच गये और सिर्फ साधारण चोट आई। इस प्रकार का परीषह भिक्षा के लिये जाने पर ही होता है। भिक्षा के लिये न जाने पर यह कैसे मालूम हो कि मुनि में इन परीषहों को सहन करने की क्षमता है या नहीं?

अर्जुन मुनि अगर भगवान् महावीर के पास ही बने रहते, भिक्षा के लिये न जाते तो उन्हें इतने परीषह क्यों होते। उन्हें जो विकट परीषह सहने पड़े, वे भिक्षा के लिये जाने पर ही हुए। भगवान् महावीर के पास रहते हुए नहीं। भिक्षा में होने वाले परीषह सहने के लिये ही वह भिक्षा के लिये गये थे। ऐसा कर के उन्होंने पांच महीने और तेरह दिन में जो तीव्र कर्म बांधे थे, उन्हें छह माह में ही क्षय कर दिया। वह अगर घर-घर में प्रवेश न करते, लाभ और अलाभ में सन्तोष मानते तो कर्म खपाने में न जाने कितना काल लगाना पड़ता।

भिक्षा सम्बन्धी नियम और-और ग्रंथों में भी बतलाये गये हैं। परन्तु वह केवल ग्रंथों में ही है, आचरण में नहीं देखे जाते। भर्तृहरी के गीत में इस प्रकार गाते हैं—

रहो तो राजाजी रसोई करूं जमता जाओ स्वामी नाथ।
खीर के निपजाऊँ क्षण एक सी जामिये आपण साथमी॥

जंगल जगायो रे जोगिये तजो तनड़ा नी आस ।
बात न गमे आ विश्वनी आठों पहर उदास ॥
जंगल बसायो रे जोगिये ।
आहार कारण ऊभो रहे कहाँ एक नी आस ।
ते जोगी नहीं भोगी जाणजो अंत होसी विनास ॥ जंगल ..

भर्तृहरी का यह गीत गाया तो जाता है, परन्तु पाला नहीं जाता । इस में कहा गया है कि भर्तृहरी अपने महल में भिक्षा के लिये गये थे । उनकी रानी पिंगला ने उन्हें पहचान लिया और कहा--आप ठहरो, मैं आप के लिये रसोई बनाती हूँ । जीम कर जाना । आप यहाँ से भूखे जाएँ यह अच्छा नहीं । मैं आप के लिये उत्साह से खीर बनाऊँगी और की रुचि के अनुसार दूसरा भोजन तैयार करूँगी । देर नहीं लगने दूंगी । आप जीम कर जाइये ।

गीता में कहा है---पिंगला की इस अभ्यर्थना के उत्तर में भर्तृहरी ने कहा--जो एक के घर के आहार की आशा में खड़ा रहता है कि यह भोजन बनाए तब मैं ग्रहण करूँ, तो वह जोगी नहीं--भोगी है । ऐसे जोगी का अन्त में अकाज होता है अर्थात् वह संसार में फिर फँस जाते हैं । इसलिए मैं तुम्हारी अभ्यर्थना स्वीकार नहीं कर सकता ।

जो लोग खान-पान के लालच में पड़ जाते हैं, वे थोड़े ही दिन में गिर जाते हैं । इसी लिये कहा है कि पर-घर प्रवेश

करके मिलने या न मिलने पर जो समान आनन्द मानते हैं वही साधु ठीक रह सकते हैं। जो लोग सिर्फ भिक्षा के लिये ही फिरते हैं, वे भिक्षा न मिलने पर अड़ भी जाते हैं। कहते हैं--जब भी भिक्षा मिलेगी, लेकर ही जाऊँगा! लेकिन इस प्रकार की भिक्षा मोक्ष के लिये नहीं है।

साधुओं को भिक्षा लेने में कष्ट होता है, लेकिन आप अपना घर छोड़कर परदेश जाते हैं, वहां आपको भी कष्ट सहने पड़ते होंगे। किसी तरह की खुशामद भी करनी पड़ती होगी। लेकिन वह सब लोभ के लिए है। किसी भी अवस्था में क्यों न हो, लाभ-अलाभ में समान भाव रखना सीखो। अलाभ होने पर यह विचार करना चाहिए कि हमारे गुरु तो लाभ-अलाभ में समता रखते हैं तो हम भी समता क्यों न रक्खें? ऐसा विचार कर संतोष रखने को सहज संतोष कहते हैं। कल्पना कीजिए, किसी के यहां किसी की मौत हो गई। वह घर वाला उसका मरना नहीं चाहता था, लेकिन मृत्यु हो गई। ऐसे समय में यह विचार कर सन्तोष करना चाहिये कि मरना-जीना अपने हाथ की बात नहीं है। जब ऐसा प्रसंग आ ही गया है तो शोक, विलाप या संताप करने से क्या लाभ है? मृत जीव वापस तो लौट नहीं सकता। ऐसा सहज संतोष रखने से शान्त होगा। भाग्य में होगी तो गई हुई चीज संतोष वाले को मिल जायगी,

लेकिन रोने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। बल्कि रोने से सात या आठ कर्म चिकने बंधते हैं और संतोष करने से कर्मों की निर्जरा होती है। अतएव सहज संतोष लाने से आनन्द ही ही होता है।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने पंच महाव्रत का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार करके जिस प्रयोजन के लिये नग्नभाव और मुण्डभाव ग्रहण किया था, वह प्रयोजन सिद्ध किया। जिस कार्य को सिद्ध करने के लिये इन्होंने बहार की पूर्वोक्त क्रिया-विधि स्वीकार की थी, वह कार्य सिद्ध हो गया।

यों तो अस्नान और अदन्तधावन आदि के संबंध में यह कहा जा सकता है कि इन ऊपरी बातों में क्या रक्खा है? मुक्ति के साथ इनका क्या संबंध है? लेकिन शास्त्र कहता है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने मुक्ति के लिये यह सब क्रियाएँ पाली थी। वैसे तो यह बात शास्त्र की है, लेकिन किसी चिकित्सा-बुद्धि वाले के सामने युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करके बताना कठिन होता है कि इन बातों से मुक्ति का क्या संबंध है? यों अदन्त-धावन और अस्नान आदि बाहरी बातें छोटी हैं, लेकिन इन व्यावहारिक बातों का पालन करने से निश्चय में भी सिद्धि होती है। जो लोग कहते हैं कि इन साधारण, ऊपरी बातों में क्या धरा है, इन्होंने इसका महत्व नहीं समझा। जो इन बातों का

महत्व समझेंगे, वे ऐसा नहीं कहेंगे । मगर कोई बात अधिक समझ में न आवे तो इतना ही समझ रक्खो कि जो बात भगवान् ने कही है और सुधर्मा स्वामी ने शास्त्र में गूँथी है, वह सत्य है । यह बात अलग है कि भगवान् की कही बात का पालन न हो सके, यह मेरी निर्बलता है, मगर उनकी कही हुई बात असत्य नहीं हो सकती । ऐसा विचार करने में भी कल्याण है । ऐसा विचार करने वाले आज नहीं तो कल सन्मार्ग पर आजाएँगे ।

परगृह-प्रवेश और लाभा लाभ के पश्चात् कहा गया है कि कालास्यवेषिपुत्र मुनि उच्च-नीच ग्रामकंटक रूप बाईस परीषह सहन करते हुए भ्रमण करते हैं ।

टीकाकार ने उच्च-नीच का अर्थ अनुकूल-प्रतिकूल किया है। उनका कथन है कि जो परीषह अनुकूल होते हैं वे उच्च परीषह हैं और जो प्रतिकूल हैं वह नीच कहलाते हैं । किसी राजा ने आकर साधु के सामने अनेक प्रकार की विभूति रक्खी और उसे स्वीकार करने की अभ्यर्थना की, यह अनुकूल परीषह है । जैसे श्रेणिक राजा ने अनाथी मुनि से कहा—

अहो वण्णो अहो रूवो अहो अज्जस्स सोमया ।
अहो खंती अहो मुत्ती अहो भोगे असंगया ॥

अनाथी मुनि का रूप देखकर श्रेणिक राजा भी आश्चर्य में पड़ गया था । आश्चर्य तभी होता है, जब कोई अनोखी बात

देखी या सुनी जाय। जिस श्रेणिक का रूप देखकर दुनिया चकित रह जाती थी, वह श्रेणिक भी उन मुँडे सिर वाले, बिना मुकुट कुंडल वाले मुनि को देखकर उनके रूप पर आश्चर्य प्रकट करता है। मुनि के यह कहने पर कि मैं अनाथ था, वह मुनि से कहता है—ऐं, आपके नाथ नहीं! अगर आपके नाथ नहीं था-आपकी बात सही है तो चलिए, मैं आपका नाथ बनता हूँ। अब और क्या बाकी है?

होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया!
मित्त-नाइपरिवुडो माणुस्सं खु सुदुल्लहं॥

श्रेणिक ने कहा—हे भय भंजक! हे संयत! मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप अनाथ थे, और आपका कोई रक्षक नहीं था तो यह मगध-नरेश आपका नाथ बनता है। मैं आप से सेवा लेने के लिए नाथ नहीं बनता, किन्तु आपका सुन्दर शरीर भोग भोगने योग्य है। अगर ऐसे-ऐसे पुरुष भी भोग न भोगें तो इस सौन्दर्य-रत्न के होने से लाभ ही क्या हुआ? आपका शरीर जैसा सुन्दर है, वैसे ही सुन्दर भोग भोगने को आप पा सकेंगे। आपका शरीर जैसा उत्तम है, उसी तरह भोग भी उत्तम हैं और जैसे भोग उत्तम हैं, वैसे ही आपका शरीर भी उत्तम है। घोड़ा और सवार दोनों उत्तम हों तभी मणि-सुवर्ण-संयोग कहलाता है। गधे के समान छोटे घोड़े पर उत्तम सवार भी शोभा नहीं पाता।

मेवाड़ में कहावत है–'जैसे राणा प्रताप वैसा ही उनका चेटक घोड़ा।' श्रेणिक कहता है, जैसे भोग हैं वैसे ही आप भोग भोगने योग्य हैं। अगर आप जैसे योग्य पुरुष भी भोग न भोगेंगे तो कौन भोगेगा? इसलिये आप मेरे राज्य में चलिये। मैं आप को उत्तम भोगों की सामग्री प्रस्तुत कर दूंगा और मित्र, जाति आदि भी सब ठीक कर दूंगा। मगध नरेश आप का नाथ बनता है तो फिर किस बात की कमी रह सकती है?

राजा श्रेणिक का यह कथन और उत्तम भोग-सामग्री प्रस्तुत करने के लिये तैयार होना, मुनि के लिये अनुकूल परीषह है।

प्रश्न होता है—श्रेणिक ने जो बातें कहीं, वह उसके लिये चाहे अनुकूल रही हों, वह इन बातों को चाहे उच्च समझता हो, लेकिन मुनि के लिये तो वह नीच ही हैं। अगर किसी मुनि के गले में रत्नों का कण्ठा डाल दो तो मुनि को वह साँप के समान लगेगा। मुनि के सामने कोई स्त्री हाव-भाव दिखलाती हो तो मुनि सोचेंगे–आग में जलना अच्छा है, मगर यह हाव-भाव देखना अच्छा नहीं। अतएव मुनि के लिये यह सब बातें नीच ही हैं, फिर इनके द्वारा होने वाले परीषह को उच्च या अनुकूल परीषह क्यों कहा है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है—महात्मा पुरुषों ने उच्च-नीच का भेद मिटा दिया है। उनके नजदीक न कोई उच्च है, न कोई

नीच है। यह उच्चता एवं नीचता तो सिर्फ व्यवहारिक दृष्टि से कही है। मुनि जन कंचन और पत्थर को समान समझते हैं, लेकिन व्यवहार में तो ऊँच-नीच का भेद बताना ही पड़ता है। परीषहों के विषय में व्यवहारिक दृष्टि से ही भेद किया गया है।

अथवा-किसी-किसी वस्तु में मन को आकर्षित करने की शक्ति होती है। जैसे, चन्दन से मन आकर्षित होता है और अशुचि से आकर्षित नहीं होता। इस प्रकार मन को आकर्षित करने वाली वस्तु का सामने आना-प्रलोभन उपस्थित होना उच्च परीषह है।

साधु पर कभी उच्च परीषह आते हैं, कभी नीच परीषह आते हैं। गजसुकुमार मुनि के सिर पर अंगार रख दिये गये थे और स्कन्धक मुनि की खाल उतार ली गई थी। इससे बड़ा परीषह और क्या होगा? लेकिन उन महापुरुषों ने उन परीषहों का भी निरादर नहीं किया। उन्होंने घोर कष्ट को भी सन्मान के समान समझा। इस प्रकार जिनकी ओर मन आकर्षित नहीं होता, फिर भी जो साधु के सन्मुख आते हैं-साधु को सहने पड़ते हैं, उन्हें प्रतिकूल परीषह कहते हैं।

उच्च-नीच का दूसरा अर्थ असमंजस भी है। असमंजस के अनेक प्रकार हो सकते हैं। विचारों का मूढ़ हो जाना भी एक प्रकार का असमंजस है। क्या करें, क्या न करें, इस बात

का निश्चय न होना असमंजस है। असमंजस का परीषह भी बहुत बड़ा होता है।

जब मनुष्य किंकर्त्तव्यमूढ़ हो जाता है, उस समय कितना कष्ट होता है, यह बात वही जानता है, जिस पर बीतती है। लोकव्यवहार की दृष्टि से महाभारत के युद्ध के समय अर्जुन के सामने ऐसा ही असमंजस था। एक ओर वह सोचता था—मेरे सामने लड़ने के लिए जो आये हैं, वे सब मेरे सम्बन्धी हैं, सब मेरे सज्जन हैं, दूसरी ओर ये सब दुर्योधन के साथी हैं। सज्जन होने के कारण ये सब मेरे द्वारा मारे नहीं जाने चाहिये, लेकिन दुर्योधन के साथी होने के कारण मारे जाने चाहिये, इस समय मेरा कर्त्तव्य क्या है? मुझे क्या करना चाहिए? यह समझ न सकने के कारण उसने धनुष्य फैंक दिया और रोने लगा। उसने कृष्ण से कहा—हे कृष्ण! मैं चित्त की दुर्बलता से विचारमूढ़ हो गया हूँ। मेरी वीरता-धीरता नष्ट हो गई है। इसलिए मैं आपसे धर्म पूछता हूँ। आप बताइए, इस समय मेरा क्या धर्म है?

कृष्ण ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन! इस प्रकार की कायरता, क्षुद्रता और दुर्बलता तुझे नहीं सोभती। इन सब का त्याग कर उठ खड़ा हो।

महाभारत के इस असमंजस के उदाहरण को हम भौतिक युद्ध में न ले जाकर इसके द्वारा यह बतलाना चाहते हैं कि इस

प्रकार का असमंजस साधु के सामने भी उपस्थित हो जाता है। क्षुधा-तृषा आदि सहन करना इतना कठिन नहीं है, जितना असमंजस के समय किसी बात का निश्चय करना कठिन है।

ऐसे असमंजस के समय शान्त होकर महापुरुष के शरण में जाना उचित है। यदि बुद्धि शान्त और निर्मल होगी तो महापुरुषों के सिद्धान्त में से ही कोई ऐसी बात निकल आएगी-कोई ऐसा मार्ग दिखाई दे जाएगा, जिससे असमंजस दूर हो जाय। अथवा किसी योग्य सज्जन के शरणमें जाकर निरभिमान भाव से उनके कथन को स्वीकार करना चाहिये। असमंजस दूर करने के यही मार्ग हैं। असमंजस के समय परमात्मा की सहायता चाहने के लिये ही परमात्मा की स्तुति की जाती है।

यह विनती रघुवीर गुसाई।

कठिन कर्म के जाहिं मोहिं जहँ तहँ अपनी बिरिपाई।

तहँ तहँ जाति छिन छोह छांकिए कमठ अंड की नाईं। यह वि०।

और आस विश्वास भरोसो हरौ जीव जड़ताई॥

चाहौं न सुगति सुमति सम्पत्ति कछु रिधि सिधि विपुल बड़ाई॥

भक्त कहते हैं-प्रभो! मैं तुम से सुगति, सुमति, आदि कुछ नहीं चाहता। सिर्फ यह चाहता हूँ कि कर्म की विचित्रता से मैं जहाँ कहीं भी जाऊं, वहां आपकी दृष्टि मुझ पर रहे।

कहा जाता है कि मगर और कच्छप अपनी दृष्टि से ही अपने अंडे पालते हैं। उनकी दृष्टि में न मालूम कैसा अमृत रहता है कि उनके अंडे उनकी दृष्टि से ही पल-पुस जाते हैं। अगर अंडों पर उनकी दृष्टि न रहे तो अंडे पोचे पड़ जाएँ।

भक्त कहते हैं—प्रभो! जिस प्रकार मगर और कच्छप की दृष्टि उनके अंडों पर रहती है, उसी प्रकार मुझ पर आपकी दृष्टि रहे। मैं जहाँ कहीं असमंजस में पड़ूं, आपकी दृष्टि से मुझे मार्ग मिल जाय।

असमंजस का परीषह कभी-कभी अनायास आ जाता है और कभी-कभी जान-बूझकर पैदा किया जाता है। जो काम आप ही असमंजस पैदा कर लेता है और उसे मिटाता नहीं है, उसके लिये समझना चाहिये कि जैसे मकड़ी अपने फंसने के लिये जाल फैलाती है, उसी तरह वह आप ही असमंजस पैदा करके अपने आप को उसमें फंसने का उपाय करता है। अनायास उत्पन्न असमंजस तो ज्ञानी के सिद्धान्त के शरण में जाने से किसी सज्जन की कृपासे मिट ही जाता है, परन्तु जो जान-बूझ कर उत्पन्न किया जाता है और जिसे मिटाने की इच्छा ही नहीं है, उस असमंजस का मिटना कठिन है। जिस में इस प्रकार का असमंजस है, वह अपने को पतन की ओर ले जाता है। अतएव समझदार को इस असमंजस से बचना चाहिये

और कभी कोई असमंजस उत्पन्न हो जाय तो उसे मिटाना चाहिये ।

उच्च-नीच ग्राम-कंटक का वर्णन करते हुए कहा था कि असमंजस का परीषह भी बड़ा है । उच्च-नीच के आगे 'ग्रामकंटक' कहा है । इसका अर्थ क्या है, यह देखना है । शास्त्र के शब्दों का अर्थ अभिधा, लक्षण और व्यंजना से होता है । आज अशिक्षा के प्रभाव से सब लोग लक्षण और व्यंजना को नहीं समझते । इसी से बहुत-से लोग 'ग्रामकंटक' शब्द का सीधा अर्थ 'गांव का कांटा' समझते हैं । मगर यह अर्थ यहां संगत नहीं है । अतएव यहां संगत अर्थ का विचार करना आवश्यक है ।

'ग्रामकंटक' का अर्थ यहां लक्षणा वृत्ति से लिया जाए तभी संगत हो सकता है । जैसे-'गंगायाम् घोषः' इसका साधारण अभिधावृत्ति से अर्थ हुआ-गंगा में घोषियों की बस्ती है । लेकिन गंगा में बस्ती नहीं हो सकती, क्योंकि वहां गांव होगा तो वह जाएगा, रह नहीं सकेगा । अतएव इस असंगति को मिटाने के लिए लक्षणावृत्ति से अर्थ लिया जाता है—'गंगा के किनारे घोष है ।' अथवा 'मञ्चा क्रोशन्ति' इसका अभिधावृत्ति से अर्थ होता है-'मांचे चिल्लाते हैं ।' लेकिन वास्तव में मांचे चिल्ला नहीं सकते, क्योंकि वह अचेतन है । अतएव लक्षणा से इस

वाक्य का अर्थ यह होगा कि मांचे पर बैठे हुए लोग चिल्लाते हैं। इसी प्रकार 'ग्रामकंटक' शब्द का अर्थ भी लक्षणावृत्ति से ही समझना चाहिये। ग्राम का अर्थ इन्द्रियां हैं और उन के लिए जो कांटे के समान हो, वह 'ग्रामकंटक' कहलाता है। कांटा जहां चुभता है वहां खटकता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों को कांटे की तरह चुभता है, वह 'ग्रामकंटक' कहलाता है प्रतिकूल परीषहों को यहां 'ग्रामकंटक' कहा है। जिनकी ओर मन का आकर्षण नहीं होता वह परीषह ग्रामकंटक हैं।

दशवैकालिक सूत्र में कहा है:—

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटगा, अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेरणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

हे मुनियों ! कांटे को सहना सरल है, लेकिन शब्द को सहना कठिन है कैसा भी कांटा क्यों न लगा हो ऐसी दवाएँ मौजूद हैं कि मुहूर्त्त भर में उसका दुःख मिट जाता है और शांति हो जाती है। यहां तक कि लोहे के बाण का कांटा लगा हो तो उसके लिये भी ऐसी दवा है कि उसे लगाने से मुहूर्त्त भर में ही उसका घाव भर जाता है। इस प्रकार कांटे का कष्ट सहना कठिन नहीं है, लेकिन वचन का कष्ट सहना बहुत कठिन है। वचन के कांटे से उद्धार पाना मुश्किल है। वचन के कांटे को निकालना और उसका घाव पूरा करना बहुत कठिन है।

वचन का कांटा नहीं निकलता तब वैर का अनुबंध करता है और न जाने कितने भवों तक वह चालू रहता है।

आज के बहुत से लोग वचन के कांटे को नहीं समझते। आप लोग तो किसी पक्षी को भी एक कांटा नहीं लगाएँगे, कोई रुपया देने लगे तो भी किसी को कांटा न चुभाओगे, लेकिन यह तो पूर्व-संस्कार का प्रताप है। यह आपके पूर्वजों के संस्कार का फल है। किसी मांसाहारी से किसी पक्षी को कांटा चुभाने के लिए कहा जाय तो वह बिना पैसे ही चुभा देगा और आनन्द मानेगा; लेकिन आप में इतनी दया है कि आप इस तरह कांटा नहीं चुभाएँगे। परन्तु बहुत से लोग कांटा न चुभा करके भी वचन का कांटा इस तरह चुभा देते हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। संसार के बहुतेरे झगड़े शब्द के कांटे की बदौलत ही हैं। अगर शब्द के कांटे चुभाना बन्द हो जाय तो अधिकांश झगड़े मिट जाएँ।

शब्द के कांटे चुभाना, एक प्रकार का लोगों का परंपरा का संस्कार बन गया है। दो लड़कियां लड़ती हैं। एक दूसरी को रांड कहती है। उन्हें यह नहीं मालूम कि रांड किसे कहते हैं? लेकिन उनकी मां उन्हें रांड कहती है, इस लिये वह समझती हैं कि रांड कोई दुःख पहुँचाने वाला शब्द है, तभी तो मेरी माता नाराज होने पर मुझे रांड कहती है। कदाचित्

लड़की रांड़ का अर्थ नहीं जानती पर माँ तो जानती है कि जिसका पति मर जाता है, उसे रांड़ कहते हैं। जब माँ रांड़ का अर्थ जानती है तब वह अपनी लड़की से ऐसा क्यों कहती है ? माता कहेगी—यह तो यों ही मुँह से निकल जाता है। मगर यों ही मुँह से निकल जाने का अर्थ यह है कि इस तरह कहना उनकी आदत हो गई है। इसी कारण माँ अपनी लड़की को रांड, डाकिन रांड आदि कहती है !

इसी तरह लड़के गाली देना गर्भ में ही सीखकर नहीं आते, किन्तु घर में सीखते हैं। अपने बाप आदि के मुख से जैसी गालियां सुनते हैं, उन्हें याद कर लेते हैं और दूसरों को देने लगते हैं। वही गालियाँ आगे जाकर लोहे के बाण से भी भयंकर रूप धारण कर लेती हैं। अतएव अपनी और अपनी सन्तान के लिये गालियाँ देना छोड़ो। मुँह पर संयम रक्खो तो सभ्य भी कहलाओगे और करुणा का भी लाभ होगा। संसार का काम गाली देने से ही नहीं चलता है, वरन् बिना गाली दिये भी चल सकता है, और अच्छी तरह चल सकता है। किसी ने ठीक ही कहा है:—

छप्पय (कवित)

जीभ जोग अरु भोग जीभ से रोग बढ़ावे,
जिभ्या से यश होय जीभ से आदर पावे।

जीभ करे फजहीत जीभ से जूता खावे,
जीभ नरक ले जाय जीभ वैकुंठ पठावे।
अदल तराजू जीभ है गुण अवगुण दोउ तोलिये।
वैताल कहे विक्रम सुनो जीभ सँभाल कर बोलिये॥

कोई देवता आपको स्वप्न दे कि तेरे दाहिने हाथ की ओर रत्नों की खान है और बाएँ हाथ की ओर कोयले की। मान लीजिए, आपके हाथ में कुदाली भी आ गई। अब आप किस ओर कुदाली चलाने की इच्छा करोगे? रत्न की खान की ओर कुदाली मारना चाहोगे या कोयले की खदान की ओर? कोयलों की ओर कुदाली चलाई तो मुँह काला होगा। विज्ञान की दृष्टि से कोयले और हीरे के मूल परमाणु एक हैं, इसी तरह शब्द की दृष्टि से अच्छे और बुरे शब्द भी एक ही हैं। मगर एक जाति के होने पर भी जैसे कोयले और हीरे में अन्तर है, उसी तरह अच्छे शब्द और बुरे शब्द में भी अन्तर है। अच्छे शब्द रत्न के समान हैं और बुरे शब्द कोयले के समान हैं। भगवान् महावीर के शब्द देव के स्वप्न (शब्दों) के समान हैं। बल्कि देव छोटे होते हैं और भगवान् देवों के भी देव हैं। फिर क्या उनकी वाणि पर विश्वास नहीं करोगे? अपशब्दों का उच्चारण करना भी क्या श्रावकपन है? श्रावक के लिये पहले बोल में थोड़ा बोलना कहा है और दूसरे बोल में विचारपूर्वक बोलना बतलाया

है। इस प्रकार बोलने में संयम रखना श्रावक का पहला कर्त्तव्य है। मगर आज यह भी सिखलाना पड़ता है।

मतलब यह है कि साधु को ग्रामकंटक भी सहने पड़ते हैं। ग्रामकंटक को उन्हें फूल बना लेना चाहिए। कालास्यवेषिपुत्र अनगार ग्रामकंटक को समभाव से सहते हुए विचरते थे। उन्होंने आत्म-ज्योति जगाने के लिये उच्च-नीच ग्रामकंटक रूप परीषह सहन किये।

जैसे लोगों को अपने पूर्व जन्म की बातें याद नहीं रहतीं, उसी तरह साधु को साधु होने से पहले की बातें याद नहीं रहनी चाहिये। ऐसे होने पर ही साधुपना रह सकता है। साधु को सभी प्रकार के कष्ट सहने के अनेकानेक प्रसंग उपस्थित होते हैं। उन्हें कभी भूखा रहना पड़ता है, कभी प्यासा रहना पड़ता है। ऐसे अवसर पर उन्हें वीर की भांति सोचना चाहिये कि— मैं क्षुधा-तृषा पर विजय प्राप्त करूँगा। इसी तरह शीत-ताप का परीषह भी सहन करना चाहिये।

शीत पड़े कपिमद झड़े, दाझे सब वनराय।
ताल-तरंगिनी के निकट ठाड़े ध्यान लगाय।
वे गुरु मेरे उर वसो।

इतना पाला पड़ रहा है कि जंगल भी जल जाते हैं, बन्दरों का मद झड़ जाता है और सब जीव कष्ट पा रहे हैं। उस

शीत के समय में भी जिनकल्पी मुनि किसी तालाब या नदी के तट पर ध्यान लगाकर खड़े हुए हैं। इस प्रकार के उच्च कोटि के महात्मा का साधु ध्यान रक्खें तो उन्हें शीत का परीषह पराभूत नहीं कर सकता।

शीत-ताप की तरह दंश-मशक, आक्रोश आदि के भी परीषह साधु को सहने पड़ते हैं। कई लोगों को साधु का वेष देखते ही ऐसा द्वेष उपजता है जैसे हाथी देखकर कुत्ते को। लेकिन जैसे हाथी, कुत्ते के भौंकने का विचार नहीं करता और अपनी मस्त चाल से चला जाता है, उसी तरह साधु भी आक्रोश परीषह को जीतते हुए संयम-मार्ग पर चलते रहते हैं। अनेक मुनियों ने इस प्रकार के परीषह बहुत धैर्यपूर्वक सहन किये हैं। यहां तक कि शरीर नष्ट कर दिया गया, खाल खींच ली गई, मस्तक पर आग भी रक्खी गई, मगर उन्होंने उफ तक नहीं किया। 'चाहत जीव सबै जग जीवन' की भावना भाते रहे।

इस प्रकार की सहनशीलता रखने पर ही परीषह जीता जा सकता है। जो स्वयं परीषहों से पराजित नहीं होता वही सच्चा साधु है।

पूज्य उदयसागरजी महाराज एक बार रतलाम में विराजते थे। वहां के एक मुसलमान ने सोचा-यह महात्मा कहलाते हैं। इनकी परीक्षा करनी चाहिये। ऐसा सोचकर वह पूज्य श्री को

गालियां देने लगा। उसने पेट भर गालियां दीं। पूज्य श्री उस समय स्वाध्याय कर रहे थे। उस मुसलमान की गालियां सुन कर मुस्किराते ही रहे। जब वह गालियां देता-देता थक गया और पूज्य महाराज के चेहरे पर उसने एक भी सिकुड़न न देखी, तब वह उनके पैरों पर गिर पड़ा। कहने लगा—'आप सच्चे महात्मा हैं।' उस समय रतलाम में सेठों का बहुत प्रभाव था। वे दूसरे राजा के समान थे। अगर पूज्यजी महाराज जरा-सा इशारा कर देते तो उस मुसलमान को मुसीबत में पड़ना पड़ता। महात्मा स्वयं सह लेते हैं, मगर दूसरे को कष्ट नहीं होने देते। कैसा भी घोर परीषह क्यों न आ पड़े, मुनि संवेग के साथ उसे सहन करते हैं। वह परीषह-जयी हैं।

साधारण तया परीषह को ही उपसर्ग कहते हैं, क्योंकि वह धर्म से च्युत होने के कारण बन जाते हैं, मगर विशेष की विवक्षा से परीषह और उपसर्ग को अलग-अलग भी गिन सकते हैं। परीषह बाईस होते हैं और उपसर्ग तीन प्रकार के होते हैं— देवकृत उपसर्ग, मनुष्यकृत उपसर्ग और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग। देव भी संयम से विचलित करना चाहते हैं, मनुष्य भी विचलित करना चाहते हैं और तिर्यञ्च भी विचलित करना चाहते हैं। लेकिन उनके दिये हुए उपसर्गों को वीर-धीर भाव से सहन करना ही साधुत्व है।

कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने जिस प्रयोजन के लिये परीषह और उपसर्ग सहन किया था, अन्त तक उस प्रयोजन को पूरा किया। यह सब मोक्ष के लिए ही उन्होंने सहन किया था और वह मोक्ष अन्त में उन्हें प्राप्त हो ही गया। ऐसे महात्मा धन्य हैं।

मोक्ष कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता। मोक्ष आत्मा में ही है और आत्मा की ही एक अवस्था है। लेकिन आत्मा अज्ञान और वहम के कारण उसी तरह बन्धन में पड़ रहा है, जिस तरह स्वप्न में आदमी सर्प, सिंह आदि से दुःख पाता है। जब स्वप्न काल का वहम मिट जाता है, तब वह दुःख भी नहीं रहता। अतएव मोक्ष-दशा प्राप्त करने के लिये पहले पहल अज्ञान को दूर करना चाहिये। वहम का होना अनादि काल का अभ्यास है, इस लिये न मालूम कब छूट सकता है, लेकिन महात्माओं ने इसे मिटाने का उपाय संयम को अपनाना बताया है। मोक्ष के लिये ही महात्मा पुरुष संयम धारण करके कष्ट पाते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र मुनि ने कितने दिन संयम पाला और मुक्त होने से कितने दिन पहले केवलज्ञानी हुए, यह बात शास्त्र में नहीं बताई है, लेकिन यह बताया है कि उन्होंने अन्तिम श्वास तक कार्य सिद्ध किया।

प्रत्येक मरने वाला अंतिम श्वास लेता है और हम लोग भी लेंगे। मनुष्य का नाम ही 'आदम' है। जबतक दम आता

है तभी तक आदम है। दम न आने पर बेदम है। इसलिए अन्तिम श्वास तो सभी मनुष्य लेंगे, मगर अन्तिम श्वास किस प्रकार लेना चाहिए, यह बात कालास्यवेषिपुत्र मुनि के जीवन से सिखनी चाहिए। उन्होंने अन्तिम श्वास ऐसा खींचा कि मोक्ष प्राप्त किया। मरने के समय स्थूल शरीर तो छूट जाता है लेकिन तैजस कार्मण या सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग शरीर नहीं छूटता। इस कारण फिर जन्म लेना पड़ता है। जैसे बड़ के पेड़ से बीज अलग गिर जाता है, फिर भी बीज में वृक्ष का संस्कार रहता है, इस कारण उससे फिर वृक्ष उग जाता है। ऐसे ही तैजस और कार्मण शरीर में संस्कार रह जाते हैं। वह संस्कार पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु के कारण बनते हैं।

लोग कहते हैं, आत्मा को परलोक में कौन ले जाता है? उन्हें जानना चाहिये कि ले जाने वाला और कोई नहीं है? तैजस और कार्मण शरीर में जो संस्कार हैं वही परलोक ले जाते हैं। यदि अन्तिम श्वास में उन संस्कारों को मिटा दिया जाय तो जैसे जला हुआ बीज फिर नहीं उगता, इसी प्रकार फिर जन्म-मरण भी नहीं होता। अन्तिम श्वास में उन संस्कारों को मिटा देना ही मोक्ष है। कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने ऐसा ही किया। उन्होंने अन्तिम श्वास ऐसा खींचा कि सब संस्कार नष्ट हो गये और वह मुक्त हो गये।

यहां कालास्यवेषिपुत्र का प्रकरण समाप्त होता है। मैंने आप के समक्ष इतने विस्तार से यह प्रकरण रक्खा है तो आप में इसका कुछ न कुछ संस्कार रहना ही चाहिये। अगर और कुछ भी याद न रहे तो कालास्यवेषिपुत्र अनगार तो याद रहेंगे ही। आपको किसी आढ़तिया से माल मंगाना होता है तो उसका नाम याद रहता है। इसी प्रकार कालास्यवेषिपुत्र अनगार का नाम याद रहेगा तो कल्याण हो जायगा। आपको याद रहें या न रहे, हमें तो याद रखना ही होगा, हमने तो इसी लिए घर-द्वार छोड़ कर संयम लिया है।

मरते तो सभी मनुष्य हैं, मगर मरने के बाद दो बातें छोड़ जाते हैं—भलाई और बुराई। मनुष्य दो मार्ग बता जाता है:—कोई भला मार्ग बता जाता है, कोई बुरा मार्ग बता जाता है। लेकिन हमें किस मार्ग पर जाना चाहिये, किस मार्ग को ग्रहण करना चाहिये, यह बात हमें महापुरुष बतला गये हैं। महापुरुष के मार्ग पर चलने से हमारा कल्याण हो सकता है कहा भी है:—

महाजनो येन गतः स पन्था।

जिस पथ पर महापुरुष गये हैं, उसे न छोड़ते हुए चला जाय तो वह अपने ठीक लक्ष्य पर पहुँच जाएगा।

अप्रत्याख्यान क्रिया

मूलपाठ—

प्रश्न—भंते! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवंतं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वदासी—णं णूणं भंते! सेट्ठियस्स य, तणुयस्स य, किवणस्स य, खत्तियस्स य, समं चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ?

उत्तर—हंता, गोयमा! सेट्ठियस्स य, जाव-अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते?

उत्तर—गोयमा! अविरतिं पडुच्च। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—सेट्ठियस्स य, तणुयस्स य, जाव—कज्जइ।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—'भदन्त!' इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा, नमस्यित्वा एवमवादीत्-तद्नूनं भगवन्! श्रेष्ठिकस्य च, तनुकस्य च, कृपणस्य च, क्षत्रियस्य च, समयेव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते?

उत्तर—हन्त, गौतम! श्रेष्ठिकस्य च, यावत् प्रत्याख्यान-क्रिया क्रियते।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन्?

उत्तर—गौतम! अविरतिं प्रतीत्य। तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते-श्रेष्ठिकस्य च तनुकस्य च यावत्-क्रियते।

शब्दार्थ—

प्रश्न—'भगवन्!' ऐसा कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना और नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोले-'भगवन्' एक सेठ, एक दरिद्र, एक कृपण और एक क्षत्रिय (राजा) यह सब एक साथ ही अप्रत्याख्यान क्रिया करते हैं?

उत्तर—हे गौतम! हां, सेठ यावत् यह सब एक साथ अप्रत्याख्यान क्रिया करते हैं।

प्रश्न—भगवन्! इस का क्या कारण है?

उत्तर—गौतम! अविरति की अपेक्षा ऐसा कहा है कि एक सेठ, एक दरिद्र और यह सब यावत् एक साथ अप्रत्याख्यान क्रिया करते हैं।

व्याख्यान-

इस शास्त्र का नाम यद्यपि 'भगवती सूत्र' बहुत प्रचलित है, मगर इसका एक वास्तविक नाम 'विवादप्रज्ञप्ति' है। यानी इसमें विविध विषयों की प्रज्ञापना (प्ररूपणा) की गई है। इसमें नाना विषयों को लेकर प्रश्नोत्तर हैं। इसलिये उन प्रश्नोत्तरों में परस्पर कोई खास संबंध नहीं है, परन्तु विद्वान टीकाकारों नें उन में परस्पर सम्बन्ध बतलाया है। इस शास्त्र में कालास्यवेषिपुत्र मुनि के मोक्ष का वर्णन करने के पश्चात् अब क्रिया का प्रश्न आता है। पहले कालास्यवेषिपुत्र मुनि के मोक्ष जाने का वर्णन है, फिर क्रिया का वर्णन है। इन दोनों वर्णनों का आपस में क्या संबंध है? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं—कालास्यवेषिपुत्र अनगार यों ही मोक्ष नहीं गये किन्तु प्रत्याख्यान क्रिया करने से मोक्ष गये। उन्होंने प्रत्याख्यान द्वारा सब पाप त्याग दिये और ऐसे त्याग दिये कि फिर पाप की वासना भी नहीं हुई। उनका पाप-प्रत्याख्यान चरम सीमा तक पहुँच गया था, इसी कारण वह मोक्ष गये।

प्रत्याख्यान करने से मोक्ष हुआ, मगर प्रत्याख्यान न करने से क्या होता है, अब यह बतलाया जा रहा है। अर्थात् पाप के त्यागी को क्या फल होता है, यह बताने के अनन्तर यह बतलाते हैं कि पाप के अत्यागी को क्या फल होता है? इससे प्रत्याख्यान का महत्व भी प्रकट हो जाता है।

इस सूत्र का उपोद्घात करते हुए कहा है कि भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूतिजी थे। उनका गोत्र गौतम था। वे प्रायः गौतम नाम से ही प्रसिद्ध थे। अधिकांश लोग उन्हें गोत्र से ही जानते थे। भगवान् ने भी उन्हें गौतम नाम से ही संबोधन किया है। शास्त्रकार उन गौतम स्वामी को 'भगवान्' कहते हैं।

'भगवान्' शब्द का मूल रूप 'भयवं' है। भव और भय का अन्त करने वाले को भगवान् कहते हैं। भव का अर्थ जन्म-मरण करना है। जन्मना, मरना और वृद्ध होना, भव है। इनसे छूट जाने की क्रिया करना भव का अन्त करना है। जो भव से निकल जाता है वह भगवान् है। फिर चाहे वह किसी भी लिंग का, किसी भी जाति का या किसी भी वर्ग का क्यों न हो। उसके भगवान् होने में कोई मर्यादा नहीं है। भव का अन्त करने के साथ ही जो भय का अन्त करे वह भी भगवान् है। जो किसी से डरे नहीं और किसी को डरावे नहीं, वह भगवान् है।

प्रश्न होता है कि जो भगवान् है, वह किसी से क्यों नहीं डरता? इस सम्बन्ध में कई बार कह चुका हूं कि जो आदमी सोने को जानता है, वह सोने के बने हुए सांप या सिंह या और किसी चीज़ को देखे तो वह उसके घाट को नहीं किन्तु सोने को ही देखता है। सोने का ग्राहक सोने से बने हुए घाट को गौण मानता है और सोने को ही मुख्य समझता है। इसी प्रकार आत्मा का ग्राहक शरीर को नहीं देखता, आत्मा को देखता है।

ज्यों कंचन तिहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यों जगजीव चराचर योनी, है चेतन गुण एक रे प्राणी ॥
श्री महावीर नमोवरनाणी ॥

सांप बनने पहले भी सोना था, जब सांप बना है तब भी सोना है और सांप न रहेगा, सांप का घाट मिट जायगा, तब भी सोना रहेगा। मतलब यह है कि सोना सांप या सिंह बना हुआ है, फिर भी उससे आप भयभीत नहीं होते। आप सोने को देखते हैं, उसका घाट नहीं देखते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ऊपर का घाट देख कर भयभीत नहीं होते। वे तो आत्मा को देखते हैं। और आत्मा को देखने के कारण किसी भी अवस्था में उन्हें भय नहीं होता। चाहे कोई उनका शरीर नष्ट करने के लिये आए, तब भी वह यही समझते हैं कि जैसे सोने

का घाट बिगड़ जाने पर भी सोना, सोना ही बना रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी सदा अमर है, वह कभी मिट नहीं सकता। चौदह राजू लोक में आत्मा ने अनेक घाट बनाये हैं। उसमें से एक घाट मिटता है, तो भले ही मिट जाए। इसमें चिन्ता या भय करने की क्या बात है!

इस प्रकार जो भय का अन्त कर देते हैं—स्वयं भय नहीं पाते और दूसरे को भी भय नहीं देते, वही भगवान् कहलाते हैं। गौतम स्वामी ने भय का अन्त कर दिया था, इसीलिये शास्त्रकार ने उन्हें 'भगवान् गौतम' कहा है।

शास्त्रकार कहते हैं—भगवान् गौतम ध्यान में बैठे थे। उन्होंने सोचा—इस संसार में विचित्रता दिखाई देती है। एक धनवान् है, दूसरा गरीब है। किसी के पास लाखों की सम्पत्ति है, किसी के पास एक बार खाने को भी नहीं है। ऐसी दशा में क्या इन सब को अव्रत की क्रिया एक-सी लगती है?

सामान्य रूप से विचार करने पर यही मालूम होगा कि धनवान् और राजा लोग बहुत आरम्भ करते हैं, अतएव इन्हें ज्यादा पाप लगता है और गरीब कम आरम्भ करता है, इसलिए उसे कम पाप लगता है। लेकिन वास्तव में किसे कम पाप लगता है और किसे अधिक लगता है, यह बात गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से तय करवा रहे हैं। यद्यपि गौतम स्वामी स्वयं ही यह

निर्णय दे सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा न करके भगवान् महावीर से निर्णय कराया। ऐसा करने में एक तो उन्होंने अपने गुरु का बड़प्पन रक्खा, दूसरे उस निर्णय में सर्व साधारण के समक्ष अधिक प्रामाणिकता आगई। अगर गौतम स्वामी या सुधर्मा स्वामी स्वयं ही निर्णय कर देते तो आगे के लोग यही समझते कि यह तो गौतम या सुधर्मा स्वामी का कथन है—भगवान् का नहीं। उस निर्णय पर भगवान् महावीर की मुहर न होती। इसके अतिरिक्त गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी उस समय केवल ज्ञानी नहीं थे। उन का किया हुआ निर्णय यद्यपि सत्य ही होता, फिर भी वह छद्मस्थ का निर्णय कहलाता। भगवान् महावीर का दिया हुआ निर्णय केवलज्ञानी का निर्णय है।

इस प्रकार विचार कर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर को 'भंते !' (भदन्त) संबोधन करके प्रश्न पूछा। 'भदन्त' म शब्द भद् कल्याणे धातु से बना है। उसका अर्थ है—कल्याण करने वाला। गौतम स्वामी ने विनयपूर्वक भगवान् महावीर से कहा—हे भदन्त ! अर्थात् हे जगत् का कल्याण करने वाले ! (गौतम स्वामी, भगवान् को जगत् का कल्याण करने वाला मानने के कारण भदन्त कहा या भगवान् गौतम के गुरु थे, इसलिए गुरु को संबोधन करने के लिये नम्रताद्योतक इस पदका प्रयोग किया।)

विनयपूर्वक वन्दना-नमस्कार करके गौतम स्वामी ने पूछा- 'हे भगवन् ! सेठ का और गरीब का अथवा कृपण का और उदार पुरुष का अव्रत बराबर है ?

टीकाकार कहते हैं कि जिस पर लक्ष्मी की कृपा हो, लक्ष्मी जिस के घर लीला करती हो, और जो लक्ष्मीपति हो, वह सेठ कहलाता है। लेकिन लक्ष्मी का अधिपति तो मूर्ख भी हो सकता है मूर्ख के पास भी लक्ष्मी का ठाठ हो सकता है। मगर सिर्फ लक्ष्मी होने मात्र से कोई सेठ नहीं हो जाता, जिसे राजा और प्रजा ने सेठ का पद दिया हो और स्वर्ण पट्ट प्रदान किया हो, जिस के सिर पर राजा और प्रजा का दिया हुआ स्वर्ण पट्ट सुशोभित रहता हो तथा जो पुरजनों का नायक हो, वह सेठ कहलाता है।

सेठ राजा और प्रजा के बीच का पुरुष होता है। राजा अगर अन्याय करता है तो उसे भी प्रजा की सहायता से ठिकाने लाने की क्षमता वाला होता है। सेठ प्रजा को अपने हाथ में इस प्रकार रखता है कि अन्याय करने वाले राजा का राज्य पर रहना कठिन हो जाता है। इस तरह एक ओर वह राजा को अन्याय करने से रोकता है और दूसरी ओर प्रजा को समझा-बुझाकर राजा के प्रति विद्रोह करने से भी रोकता है। ऐसा मध्यस्थ और न्यायप्रिय व्यक्ति, शास्त्र के अनुसार सेठ कहलाता है।

सेठ क्या कर सकता है और सेठ के हाथ में कितनी शक्ति होती है, इसके लिए उदयपुर के सेठ चम्पालालजी की सेठाई प्रसिद्ध है। सारी प्रजा सेठ के पक्ष में थी। राणा के पक्ष में कोई नहीं था। एकबार ऐसा मालूम होता था कि प्रजा सेठ की है, राणा की नहीं है। राज महल का चौक झाड़ने के लिये मेहतर की आवश्यकता होती और मेहतर से कहा जाता तो वह उत्तर देता-सेठ से आज्ञा दिलवा दीजिए। उनकी आज्ञा होने पर ही हम आ सकते हैं। पानी भरने वालों ने पानी भरना बन्द कर दिया। सौदा बेचने वालों ने सौदा बेचना बन्द कर दिया। सब सेठ के इशारे की राह देखने लगे। आखीर राणा को झुकना पड़ा और तभी सब काम यथावत् चालू हो सका।

उदयपुर के एक नगर सेठ प्रेमचन्दजी को राणा जागीर देने लगे। उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा—मैं जागीर लेने के बाद सेठ नहीं रह सकूँगा। गुलाम हो जाऊँगा। जागीर के लोभ के कारण मुझे आपके हाँ में हाँ मिलाना होगा। प्रेमचन्दजी की ऐसी उदारता देखकर ही गरीब होने पर भी राणा स्वरूपसिंहजी ने सेठ की पदवी उन्हें प्रदान की थी।

मतलब यह है कि सिर्फ लक्ष्मी होने के कारण ही कोई सेठ नहीं कहलाता, किन्तु जो प्रजा का नायक भी हो वही सेठ है। शास्त्र में सेठ का वर्णन करते हुए कहा है—

आलंबणं, चक्खू, मेढी, पमाणभूए, आहारे ।

पहले जमाने में कुएँ के ऊपर जो पेड़ होता था, उसमें एक रस्सी बाँधकर उसे कुएँ में लटका दिया जाता था। इसका प्रयोजन यह था कि कदाचित् कोई अचानक कुएँ में गिर पड़े तो उसका सहारा ले ले। जैसे वह रस्सी गिरने वाले के लिए सहारा हो जाती थी, उसी प्रकार सेठ प्रजा का आलम्बन होता है। सेठ प्रजा को गिरने नहीं देता। इसी प्रकार सेठ प्रजा के लिए मेढी है। अनाज के खलीहानों में दावन चलाने के लिए बीच में एक लकड़ी गाड़ दी जाती है। बैल कतार में उसी लकड़ी के सहारे घूमते हैं। इसी प्रकार सेठ भी प्रजा के लिए इस तरह का आलंबन होता है कि प्रजा उसके सहारे घूमती रहती है। अर्थात् सेठ के भरोसे पर सारा काम करती है। सेठ प्रमाणभूत होता है। उसकी बात प्रमाणभूत मानी जाती है। सेठ सबका आधार होता है। जैसे आहार सब का आधार है, आहार किये बिना किसी का जीवन कायम नहीं रह सकता, उसी तरह वह भी सब का आधार होता है। सेठ के बिना किसी का काम नहीं चल सकता। ऐसी विशेषताएँ जिसमें होती हैं, वही सच्चे अर्थ में सेठ कहलाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—एक ओर सेठ है, दूसरी ओर एक दरिद्र है। ऊपरी दृष्टि से ऐसा मालूम होता है कि सेठ को बहुत प्रपंच करना पड़ता है, और जो दरिद्र है, उसे अधिक प्रपंच नहीं

करना पड़ता वह थोड़ा आरंभ करता है। ऐसी दशा में दोनों को अव्रत की क्रिया बराबर लगती है या कुछ भेद है ? अथवा एक ओर सेठ है और दूसरी ओर एक कृपण है। क्या दोनों को अव्रत की क्रिया बराबर लगती है ?

कृपण किसे कहते हैं, इस संबंध में किसी ने कहा है—

खाय नहीं खरचे नहीं, भेली कर गया भूंच।
धनमाल धर्या रह्या, डेरा कर गया कूच ॥
कृपण धन खरचे नहीं जीवित जस ना लेत।
जैसे अडवा खेत का, खाए ने खावा देत ॥१॥

पास में पैसे हैं मगर खर्च के नाम पर हाथ कांपने लगते हैं। ऐसा आदमी कृपण या सूम कहलाता है। यों कृपण का अर्थ दीन, गरीब भी है और यहां यह अर्थ भी संगत है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—हे गौतम ! अव्रत की क्रिया दोनों को बराबर लगती है। किसी के पास सम्पदा है या नहीं है, यह महत्वपूर्ण बात नहीं है। देखना यह चाहिये कि इच्छा दोनों में है या नहीं ? जब तक इच्छा नहीं छूटी, तब तक अव्रत की क्रिया लगती ही है। अगर किसी के पास धन नहीं है, तो धन न होने के कारण ही कोई धर्मात्मा या त्यागी नहीं हो सकता। पास में न होने पर भी अगर इच्छा

नहीं रुकती तो पाप भी नहीं रुकता। अगर इच्छा रुक गई है, फिर भी किसी के पास बहुत-सा धन है, वह जल में कमल की तरह रहता है तो पाप से बचा रहता है। शास्त्र में कहा है—

अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ। श्रीदशवैकालिक सूत्र अ. २

जिसने सिर मुंड़ा लिया है, मगर भोग की लालसा नहीं छोड़ी–सिर्फ भोग न मिलने के कारण जो त्यागी बना हुआ है, वह त्यागी नहीं भोगी ही है। उसे पाप लगता ही है। अतएव प्रथम तृष्णा को जीतना चाहिए।

अप्रत्याख्यान क्रिया संसार के बाह्य पदार्थों से नहीं लगती, वरन् अपने परिणाम से लगती है। अपने परिणामों की धारा से ही कर्म का बन्ध होता है। लोक में कहावत है–

मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।

अर्थात्–सब मति एक सी नहीं होती–हरेक का विचार अलग–अलग होता है।

इस कहावत के अनुसार परिणामों की धारा अनन्त प्रकार की है। वह सब भेद कहे नहीं जा सकते। अतः शास्त्रकारों ने सब परिणामों के चार प्रमुख भेद बतला दिये हैं, जो चार प्रकार के कषाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। कष का अर्थ संसार है और आय का अर्थ आमद है। जिससे संसार की आमद हो

अर्थात् संसार बढ़े, उसे कषाय कहते हैं। कषाय के चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यानी कषाय, प्रत्याख्यान-वरणीय कषाय और संज्वलन कषाय।

जिस कषाय के होने पर संसार की सन्तति अनन्त होती है, जन्म-मरण का अन्त नहीं आता, वह अनन्तानुबन्धी कषाय है। अनन्तानुबन्धी कषाय भी क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार प्रकार का है। अनन्तानुबन्धी कषाय का क्रोध पर्वत की दरार के समान होता है। जैसे पर्वत के फट जाने पर जो दरार बनती है, वह फिर कभी नहीं मिटती, इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध भी जीवन पर्यन्त नहीं मिटता। अनन्तानुबन्धी मान पत्थर के खंभे के समान होता है, जो झुकाने पर कदापि नहीं झुक सकता। अनन्तानुबन्धी माया बांस की जड़ के समान होती है। जैसे बांस की जड़ में गांठ पर गांठ पड़ती जाती है, इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी माया में भी गांठ पर गांठ होती है। अनन्तानुबन्धी लोभ ऐसा होता है, जैसे मजीठ का रंग, जो जलने पर भी नहीं बदलता। इस प्रकार जो कषाय जीवन भर न जाय, वह अनन्तानुबन्धी है।

प्रश्न होता है कि अगर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ जीवन भर नहीं जाता तो फिर कोई जीव सम्यग्दृष्टि किस प्रकार हो सकता है ? मतलब यह है कि सम्यग्दर्शन होने

से पहले प्रत्येक जीव में अनन्तानुबन्धी कषाय अवश्य होता है और यह कषाय जन्म भर नष्ट नहीं होता और इसके नाश (क्षय क्षयोपशम, उपशम) हुए विना सम्यग्दर्शन नहीं होता। ऐसी स्थिति में किसी जीव को सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। मगर सम्यग्दर्शन का होना शास्त्र में प्रसिद्ध है, फिर इस कषाय को आजीव रहने वाला कैसे माना जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ का ऊपर वर्णन किया है उसी प्रकार के क्रोध आदि होने पर तो सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। परन्तु जैसे पर्वत के बीच की दरार यों तो नहीं मिट सकती, लेकिन यदि पर्वत ही परमाणु या छोटे स्कंधों के रूप में परिणत हो जाय तो वह दरार भी मिट ही जाएगी। संसार में आघात है तो प्रत्याघात भी है। लोहे के दो टुकड़े, कितना भी प्रयत्न किया जाय, एक नहीं हो सकते; लेकिन दोनों को गला दिया जाय तो दोनों मिल जाते हैं। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय वाला अगर उसी स्थिति में रहे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। क्योंकि उस का कषाय चिकना है। लेकिन किसी धर्मात्मा पुरुष की संगति मिलने पर और अपूर्व क्रिया करने पर वह क्रोध आदि गलकर दूसरे ही सांचे में ढल जाते हैं। अर्थात् महापुरुष निमित्त बन कर उन्हें गला कर दूसरे सांचे में ढाल देते हैं।

महापुरुष के मिलने पर कोई जीव तत्त्व की बात समझ लेता है, मान लेता है, उस पर पूरी आवस्था भी रखने लगता है, लेकिन उससे त्याग नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में अप्रत्याख्यान की क्रीया लगती ही रहती है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य संयम लेना अच्छा समझता है लेकिन उससे संयम लेने को कहिए तो वह घर-संसार छोड़ नहीं सकता।

यहाँ मिथ्यात्व और परिग्रह आदि की क्रियाओं को छोड़ कर केवल अव्रत की क्रिया के विषय में प्रश्न किया गया है अर्थात् मध्य की बात पूछी है। यह एक न्याय है कि मध्य की बात लेने पर आदि और अन्त की बातों का भी ग्रहण हो जाता है व्यवहार में कहते हैं—कमर कस ली। यह कोई नहीं कहता कि सिर कस लिया या पाँव कस लिये। कमर कसने से सिर और पैरका कसना भी आ जाता है। इसी प्रकार अव्रत की क्रिया को लेने पर मिथ्यात्व और परिग्रह आदि की क्रिया का भी ग्रहण हो जाता है। जो अव्रत की क्रिया जीत लेगा वह मिथ्यात्व आदि की क्रिया भी जीत लेगा। इसी लिए शायद अव्रत की क्रिया पर जोर दिया है। इसके अतिरिक्त और भी कोई कारण हो तो ज्ञानी जानें।

अप्रत्याख्यानी क्रिया का उदय होने पर किसी भी वस्तु का त्याग नहीं होता। इस क्रिया वाले से कहा जाय कि काक-मांस ही त्याग दे, तो वह कहेगा—क्या मालूम, कभी वही खाने का

काम पड़ जाय। ऐसा कहकर वह कौआ का मांस भी नहीं त्यागता।

एक ओर विशाल वैभव वाला सेठ है, जिसने कुछ भी त्याग नहीं किया है और दूसरी ओर एक दरिद्र है। उसने भी कुछ त्याग नहीं किया है। धनी सेठ से कहा जाता है-'तेरे पास तो बहुत हो गया है, अब तृष्णा छोड़--अधिक का त्याग कर दे। अब सम्पत्ति की मर्यादा कर ले कि इससे अधिक नहीं रक्खूँगा। इसके उत्तर में वह कहता है—'करोड़ के दो करोड़ होने में क्या देर लगती है ? शायद दो करोड़ हो जाएँ ! इसलिए अभी कैसे मर्यादा कर लूँ !' अगर दरिद्र से कहा जाता है—'तुझे खाने को ही नहीं मिलता है, तू क्या धनवान् बनेगा ! इसलिए ममता क्यों नहीं त्याग देता ! तो वह कहता है—शायद कभी भाग्य खुल जाय और मैं धनवान् बन जाऊँ।' इस प्रकार दोनों ही अधिक की तृष्णा के फेर में पड़े हैं। गौतम स्वामी कहते हैं--- इन दोनों त्याग न करने वालों को बराबर क्रिया लगेगी या कम ज्यादा ?

भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर दिया---हे गौतम ! दोनों को बराबर क्रिया लगती है। ममता छूटे विना क्रिया लगना बन्द नहीं होता। पास में हो या न हो, तथापि ममता तो दोनों की ही बराबर है। इसलिए क्रिया भी दोनों को बराबर लगती है।

बहुत से लोग प्रश्न करते हैं--जो चीज हमने देखी नहीं, सुनी नहीं, उसकी क्रिया हमें किस प्रकार लगती है ? वास्तव में यह बात किसी ज्ञानी की संगति करने से ही मालूम होती है। एक उदाहरण द्वारा यह बात समझाता हूँ। उदयपुर के जेल के संबंध में एक बात सुनी थी। एक बुढ़िया को जेल में डाला गया। बुढ़िया ने कभी जेल नहीं देखा था। उसने जेल में रहने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझा। पहरेदार ने सोचा--यह बुढ़िया कहां जा सकती है ! ऐसा सोचकर वह तलवार टांग कर निश्चिन्त होकर सो गया। बुढ़िया ने पहरेदार की तलवार उठाई और मरने के इरादे से अपने गले में घुसेड़ ली। मरने का इरादा करना सरल भले ही हो, मगर मरना सरल नहीं है। बुढ़िया ने तलवार घुसेड़ तो ली, मगर मर न सकी। उसका गला घर्र-घर्र करने लगा। इतने में सिपाही जाग उठा और उसने तलवार पकड़ ली। बुढ़िया के गले में घाव हो गया, जो बाद में दवा-दारू करने से ठीक हो गया। आशय यह है कि सिपाही ने तलवार टांगी थी, मगर उसका यह इरादा नहीं था कि इससे बुढ़िया अपना गला काटने का प्रयत्न करे। फिर भी अदालत से उसे कुछ महीनों की सजा हो गई। अब आप सोचें कि सिपाही को सजा मिलना इंसाफ हुआ या बेइंसाफ़ हुआ ? सिपाही ने बुढ़िया का मारना नहीं चाहा था, मगर असावधानी थी। असावधानी के फल-स्वरूप उसे सजा मिली।

सिपाही का बुढ़िया को मरने देने का इरादा नहीं था। उसने यह देखा, सुना या विचारा भी नहीं था कि बुढ़िया मेरी तलवार से मरने का विचार करेगी। फिर भी उसे दंड मिला। इसी प्रकार जो वस्तु देखी नहीं है, जिस के विषय में कुछ सुना नहीं है, उसकी भी क्रिया लगती है। अगर आपको क्रिया से बचना है तो जो चीजें रखनी हैं, उनके सिवा शेष सब का त्याग क्यों नहीं कर देते? त्याग न करने पर तो क्रिया लगेगी ही। आप की जानकारी से ही क्रिया नहीं लगती है। आप ज्ञानी नहीं हैं। जैसे जेल का सिपाही जानता नहीं था फिर भी जेल का नियम भंग करने के कारण उसे दंड मिला, उसी प्रकार ज्ञानी के बनाये हुए नियम न पालने से भी दंड मिलता है। अगर बुढ़िया मरने न लगती तो उसकी गलती की चर्चा न उठती लेकिन ज्ञानी के पास पूरा हिसाब है। ज्ञानी सब गफलत जानते हैं। इसलिये जिस क्रिया को तू नहीं जानता, वह भी तुझे लगती है।

क्रिया से बचने के लिये त्याग की आवश्यकता है। अगर पूर्णरूप से संसार के सब पदार्थों का त्याग नहीं हो सकता तो जितना संभव हो, त्याग करो। जितने अंश में त्याग करोगे उतने अंश में क्रिया से बचोगे। श्रावक स्थूल त्याग कर सकता है, सूक्ष्म नहीं त्याग सकता। तब भी स्थूल त्याग करने के बाद जो रहा, उसके लिये अव्रत की क्रिया नहीं लगेगी। त्याग होते ही

अव्रत की क्रिया टूट जाती है। फिर वह भले ही थोड़ा ही क्यों न हो ! त्याग के बाद जो कुछ रहा, उसके लिये परिग्रह की क्रीया मौजूद है। जब तक तनिक भी त्याग नहीं है, तभी तक अव्रत की क्रिया लगती है। थोड़ा-सा त्याग करते ही अव्रत की क्रिया छूट जाती है, मगर उसके लिये प्रमाद की क्रिया लगती रहती है।

प्रश्न हो सकता है कि त्यागने के बाद जो शेष रहा, वह अव्रत में क्यों नहीं है ? इस का उत्तर यह है कि मोती जब तक पूरा है, तभी तक उसकी कीमत मोती की होती है। टूट जाने पर वह मोती की क़ीमत पर नहीं बिक सकता और न मोती क़हलाता है। उसे मोती के टुकड़े भले ही कह दिया जाय ! इसी प्रकार थोड़ा भी त्याग कर देने पर अप्रत्याख्यानी क्रिया का सिर टूट जाता है। उसके टुकड़े हो जाते हैं। अतएव उस आंशिक त्यागी को वह क्रिया नहीं लगती। फिर तो उसके त्याग से जो बाकी रहा है, वह परिग्रह की क्रिया में होता है। उदाहरणार्थ— किसी मनुष्य ने हरितकाय का त्याग किया, मगर कुछ हरितकाय की वस्तुएँ बाकी रखलीं। तो उसने जो त्याग किया है, उसके पाप से तो वह बच ही गया, लेकिन जो हरितकाय उसने त्यागा नहीं है, उसका भी रस टूट गया। वह यह बात समझेगा कि मुझे सभी हरितकाय त्यागना उचित है, किन्तु मैं अपनी दुर्बलता के कारण त्याग नहीं कर सका हूँ। ऐसी भावना करके वह नहीं त्यागी को भी त्याज्य समझेगा, उसके

विषय में नम्रता धारण करेगा और इस कारण जो लिलोतरी त्यागने से रह गई हैं, उसका भी रस टूट जायगा। मान लिजिये, आप किसी आदमी पर एक हजार रुपया माँगते हैं। आप उसके यहाँ माँगने गये। रुपया देना तो दूर रहा, वह उलटा मारने दौड़ा। उस दशा में आप उस पर मुकदमा चलाएँगे तो फौजदारी का चलाएँगे लेकिन अगर उसने कुछ रुपये जमा करा दिये और बाकी के लिये कहा—अभी मेरे पास नहीं हैं। होने पर दे दूँगा। तो आप उस पर दीवानी दावा चाहे करें, लेकिन फौजदारी दावा नहीं कर सकते। उस के पास जो कुछ होगा; सरकार दिलाएगी, न होगा तो क्या दिलाएगी ? इस प्रकार कुछ भी त्याग न करना तो फौजदारी केस के समान है और कुछ त्याग कर देने पर जो बाकी रहता है, उसके लिये दीवानी मुकदमे की तरह परिग्रह की क्रिया लगती है। जो त्याग करता है उसका संसार कटता है। अतएव आत्मा को शुद्ध करने के लिए त्याग का शरण लेना चाहिए। आत्मा को सरल और शांत बनाने के लिए जितना भी हो सके उतना त्याग करने से अव्रत की क्रिया नहीं लगती और आत्मा पवीत्र होता है।

जिसके अन्तःकरण में त्याग की भावना आजाती है उसका मन पवित्र हो जाता है। वह कहने लगता है:—

मन लागो मेरो यार फकीरी में, मन लागो।
जो सुख पायो नाम भजन में, सो सुख नहीं अमीरी में ॥ मन.॥

आपकी नजर में फकीरी बड़ी है या अमीरी बड़ी है ? आपको यह विचार कर कुछ कहने में संकोच होगा कि यदि हम अमीरी को बड़ा कहें तो फिर साधुओं के पास आये ही क्यों हैं ? अगर फकीरी को बड़ा कहें तो फिर फकीरी लेते क्यों नहीं हैं ? खैर, आप कुछ कहें या न कहें, अगर वास्तव में ही आप अमीरी को बड़ा समझते होते तो साधुओं के पास न आते। जिसका दिल फकीरी को बड़ा समझता है, उसी को महा पुरुष का चरित सुखदाता हो सकता है। जो भोग के कीड़े बन रहे हैं, उनकी संसार यात्रा भी कठिन होगी।

चाहे कोई राजा हो या रंक हो, सेठ हो या दरिद्र हो, जबतक उसका ममत्व नहीं छूटा, उसने अप्रत्याख्यानी क्रिया बंद नहीं की, तबतक उसे बराबर क्रिया लगती रहती है। चाहे ऊपरसे फर्क दिखता हो लेकिन दोनों ही तरह के लोगों की ममता न छूटने से अप्रत्याख्यानी क्रिया दोनों को बराबर लगती है। क्रिया के लिहाज से दोनों बराबर हैं। इसलिये इच्छा का निरोध करो। इच्छा का निरोध करने से अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का निरोध होगा।

यह मत समझो कि जो चीज तुम्हारे पास नहीं है उसकी क्रिया भी तुम्हें नहीं लगती। किसी के हजार रुपये चोरी चले गये। अब उसके पास हजार रुपये नहीं हैं, लेकिन उसकी

इच्छा यही है कि मेरे गये हुए रुपये वापस आ जाएँ । यह इच्छा बनी रहने के कारण पास में रुपये न होने पर भी क्रिया लगती है । इस प्रकार जो चीज सामने नहीं है, या जिसे देखा और सुना नहीं है उसकी भी क्रिया लगती है । लोगों के खाने-पीने में तो कम चीजें आती होंगी पर तृष्णा बहुत है और तृष्णा ही कर्मबन्ध का कारण है । नमिराज ऋषि ने कहा था—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।

अर्थात्—इच्छा आकाश के समान अनन्त है ।

किसी लोभी के घर में सारा संसार भर दिया जाय तो भी उसे सन्तोष नहीं होता । चौदह राजू लोक, आकाश के एक क्षुद्र अंश में है । जब चौदहराजू लोक से भी आकाश न भरा गया तो और किस प्रकार भरा जायगा ? वास्तव में वह भरा नहीं जा सकता, क्योंकि आकाश अनन्त है । इच्छा भी आकाश की तरह अनन्त है । इच्छा की पूर्ति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती और जबतक इच्छा है, तबतक क्रिया भी लगती ही रहती है । अतएव इच्छा को रोकना चाहिए ।

एक आदमी ने राजपाट छोड़कर संयम ले लिया और दूसरे का राजपाट छूट गया । जिसने छोड़कर संयम लिया है, उसकी इच्छा रुक गई और इस कारण उसे क्रिया लगना बंद हो गया । जिसका राजपाट छूट गया है उसमें छूटे हुए राजपाट

को वापस पाने की इच्छा बनी हुई है। इसलिये उसकी क्रिया बंद नहीं हुई। हाँ, अगर वह भी सन्तोष कर ले, इच्छा को रोक ले तो उसे भी क्रिया लगना बंद हो जायगा।

यही बात संसार मे किसी के मरने के विषय में भी समझो। दुनिया में जब कोई मरता है तो उसके घर वाले रोते हैं कि हाय ! दगा दे गये ! लेकिन जो दगा दे गया उसे क्या रोना ? मगर तृष्णा यह नहीं देखती कि कोई दगा दे गया है या और कुछ कर गया है। इसीलिए ज्ञानी कहते हैं कि तृष्णा को रोको। तृष्णा रुकी होगी और कोई मर भी जायगा तब भी यही कहा जायगा कि गई तो गई, मैं दुःख क्यों करूँ ?

अगर आप पूरी तरह तृष्णा नहीं रोक सकते तो भी जो चीज चली गई है उसकी तृष्णा तो रोको। ऐसा करने से धीरे-धीरे सब तृष्णा रुक जायगी। जो चीज गई है, रोने से आ नहीं सकती। फिर रोने से क्या लाभ है। सन्तोष करने से तृष्णा रोकने का लाभ होगा। चीज तो रोने वाले की भी जाती है और न रोने वाले की भी जाती है। रोने वाले और न रोने वाले में कितना अन्तर है, यह बात एक घटना से बतलाई जाती है।

लोकमान्य तिलक भारत में ही नहीं, विदेशों में भी प्रसिद्ध हैं। उनके मस्तिष्क की सभी प्रशंसा करते हैं। लेकिन उनके मस्तिष्क में ऐसा क्या था ? यह बात इससे मालूम होती है कि

उनका एक युवक लड़का प्लेग में आकर मर गया। लोकमान्य 'केशरी' पत्र का सम्पादन करते थे। वे पत्र के लिए लेख लिख रहे थे कि इतने में ही लड़के के मरने की उन्हें खबर मिली। लोकमान्य ने खबर लाने वाले से कहा–'वह मर गया ? अच्छा, अन्तिम संस्कार की तैयारी करो। मैं लेख पूरा करके आता हूँ। लोकमान्य का वह लड़का शिक्षित था और लोग कहते थे कि वह लोकमान्य से भी बढ़-चढ़ कर निकलेगा। ऐसे लड़के के मरने की खबर आने पर कितनी चिन्ता हो सकती थी ? पर लोकमान्य ने कोई चिन्ता नहीं की। वह जो लेख लिख रहे थे, उसे पूरा किया। लड़के की मृत्यु के कारण उस लेख में आदि से अन्त तक कोई अन्तर नहीं पड़ा।

श्रमण निर्ग्रन्थ और आहार

मूलपाठ—

प्रश्न—आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ, किं पकरेइ, किं चिणाइ, किं उवचिणाइ ?

उत्तर—गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, जाव अणुपरियट्टइ ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं जाव अणुपरियट्टइ ?

उत्तर—गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कमइ, आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकाइयं णावकंखइ, जाव—

तसकायं णावकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहारं आहारेइ ते वि जीवे णावकंखइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ, जाव—अणुपरियट्टइ ।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—आधाकर्म भुञ्जानः श्रमणो निर्ग्रन्थः किं बध्नाति, किं प्रकरोति, किं चिनोति, किं उपचिनोति ?

उत्तर—गौतम! आधाकर्म भुञ्जान आयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः शिथिल-बन्धनबद्धा दृढबन्धनबद्धाः प्रकरोति, यावद् अनुपरिवर्तते ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन यावद्—अनुपरिवर्तते ?

उत्तर—गौतम! आधाकर्म भुञ्जानः आत्मनो धर्ममति कामति, आत्मनो धर्ममति कामन् पृथिवीकायिकं नावकाङ्क्षति, यावत्—त्रसकायं नावकाङ्क्षति । येषामपि च जीवानां शरीराणि आहारमाहरति तानपि जीवान् नावकाङ्क्षति । तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—आधाकर्म भुञ्जानः आयुष्कवर्जाः सप्तकर्मप्रकृतीः, यावत्-अनुपरिवर्तते ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—हे भगवन् ! आधाकर्म दोषवाला आहार भोगता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ क्या बांधता है, क्या करता है, किस का चय करता है और किसका उपचय करता है ?

उत्तर—हे गौतम ! आधाकर्म दोष वाला आहार भोगता हुआ (श्रमण निर्ग्रन्थ) आयुकर्म को छोड़ कर सात शिथिल बन्धी हुई कर्मप्रकृतियों को दृढ़ बन्धन में बन्धी हुई बांधता है, यावत्-संसार में बार-बार भ्रमण करता है।

प्रश्न—भगवन ! इसका क्या कारण है कि, यावत् वह संसार में बार-बार भ्रमण करता है ?

उत्तर—गौतम ! आधा कर्म दोष वाला आहार भोगता हुआ (श्रमण निर्ग्रन्थ) अपने धर्म का उल्लंघन करता है। अपने धर्म को उल्लंघन करता हुआ वह पृथिवीकाय की परवाह नहीं करता और यावत्-त्रसकाय के जीव की परवाह नहीं करता। और जिन जीवों के शरीरों को वह खाता है, उन जीवों की भी परवाह नहीं करता। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि आधा कर्म दोष वाला आहार भोगता हुआ (श्रमण)

आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मों की प्रकृतियों को मजबूत बांधता है, यावत्-संसार में बार-बार भ्रमण करता है।

व्याख्यान-

क्रिया के संबंध में प्रश्न करने के पश्चात् गौतम स्वामी अब श्रमण निर्ग्रन्थ के आहार के विषय में, प्रश्न करते हैं। इसलिए पहले यह देखना चाहिए कि श्रमण निर्ग्रन्थ किसे कहते हैं? जिसमें समभाव है-किसी पर राग या द्वेष नहीं है, वह श्रमण कहलाता है। साधु के लिये समभाव अत्यावश्यक है। समभाव के बिना कोई भी सच्चा साधु नहीं हो सकता। समभाव प्राप्त करना ही साधु होने का प्रयोजन है। संसार में ऊँच-नीच आदि का विषमभाव भरा है, उसे मिटाने के लिये साधुपद स्वीकार किया जाता है। भगवान् ने उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

> लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
> समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ॥

अर्थात्-लाभ में और अलाभ में, सुख में और दुःख में, जीवन में और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान में और अपमान में समभाव रखने वाला ही सच्चा साधु है।

साधु को संसार की सम्पदा से कोई सरोकार नहीं होता। उसके लाभ और अलाभ का प्रश्न ही साधु के लिये उपस्थित

नहीं होता। साधु को शरीर की रक्षा के लिये सिर्फ आहारादि की आवश्यकता होती है। वह कभी मिले अथवा न मिले, तब भी समभाव रखना चाहिए।

साधुओं को सिर्फ आहारादि की आवश्यकता होती है, मगर गृहस्थी में रहने वाले गृहस्थों को बहुत-सी चीजों की आवश्यकता हुआ करती है। जिस समय लाभ की इच्छा होती है, उस समय लाभ के बदले कभी-कभी हानि हो जाती है। बहुत बार कोई राजा विजय की आशा से किसी देश पर चढ़ाई करता है, मगर उसे हार खाकर लौटना पड़ता है। आपमें और साधु में यही अन्तर है कि साधु आहार के लिये गये परन्तु आहार न मिला तो समभाव रखते हैं। वह सोचते हैं—मैं लाभ या अलाभ के लिये साधु नहीं हुआ हूं, किन्तु समभाव के लिये साधु हुआ हूं। आहार की उपयोगिता इसी बात में है कि समभाव की आराधना में वह सहायक हो। कदाचित् आहार न मिले तो भी क्या हानि है? मैं आहार के लिये समभाव को कैसे खो सकता हूं?

आप सोचते होंगे—आहार के निमित्त जाने पर भी अगर आहार न मिले तो दुःख हो ही जाता है; लेकिन दुःख होना अज्ञान और मोह का परिणाम है। जिसका मोह और अज्ञान नष्ट हो जायगा, उसे दुःख स्पर्श भी नहीं कर सकता। मन को

साधने के लिये भूतकाल, भविष्यकाल और वर्त्तमानकाल पर दृष्टि देने की आवश्यकता है। जहां लाभ के बदले अलाभ हो, वहां अलाभ के मूल कारण को खोजना चाहिये। उस कारण को खोजने पर दुःख होगा ही नहीं।

ढंढण मुनि प्रतिदिन गोचरी करने जाते लेकिन उन्हें आहार न मिलता। वह कृष्ण पुत्र थे और भगवान् नेमिनाथ के शिष्य थे। वह द्वारिका नगरी में ही गोचरी के लिये जाते थे। द्वारिका जैसी नगरी—कृष्ण की राजधानी और कृष्ण के पुत्र ढंढण जैसे मुनि! वह भिक्षा के लिये जाते किन्तु भिक्षा नहीं मिलती थी, यह कितने आश्चर्य की बात है? अगर वह दुःख मानते तो कितना दुःख मान सकते थे? लेकिन नहीं, उन्होंने दुःख नहीं माना। वरन् ज्यों-ज्यों आहार न मिलता, वे आनन्दित होते और सोचते—'मैं आहार के लिये साधु नहीं हुआ हूं। मैंने पूर्व जन्म में जो अन्तराय कर्म बांधा है, उसे नष्ट करने के लिये साधु हुआ हूं। अगर मुझे आहार मिलता तो मेरे कर्म क्षीण कैसे होते और मैं कैसे जानता कि मैंने कैसे कर्म बांधे हैं!' इस प्रकार तीनों कालों पर दृष्टि देने से अलाभ भी आनन्ददायक हो जाता है।

ढंढण मुनि ने अभिग्रह किया था कि मैं अपनी लब्धि का मिला हुआ आहार ही लूंगा, दूसरे की लब्धि का ग्रहण नहीं

करूँगा। मैं स्वयं आहार की गवेषणा करूँगा और मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नहीं लूँगा। यह उनका अभिग्रह था। मगर वह जहां-कहीं जाते उन्हें आहार न मिलता। अगर उनके साथ कोई दूसरे मुनि जाते तो उन्हें भी आहार न मिलता। साथी मुनि उनसे कहते—'आप विराजिये, हम आपके लिए आहार लाते हैं।' मगर ढंढण मुनि का उत्तर था—'नहीं, मैं आपका लाया आहार नहीं लूँगा। मेरे साथ जाने से आपके आहार में भी अन्तराय पड़ता है, इसलिए मैं अकेला ही जाऊँगा।' इस प्रकार वह अन्य मुनियों के साथ न जाकर अकेले ही जाते और आहार न मिलने पर लौट आते। इस प्रकार आहार की खोज करते-करते महीनों बीत गये, पर आहार नहीं मिला।

एक दिन श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से पूछा—भगवन्! आपके अठारह हजार मुनियों में सबसे उत्कृष्ट तपस्वी कौन मुनि है? कौन सबसे उत्तम क्रिया करता है?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे कृष्ण! तुम्हारे वंश के सिवाय इस समय दूसरा उत्कृष्ट तप करने वाला कोई नहीं है। तुम्हारे पुत्र ढंढण मुनि सबसे उत्कृष्ट तप और क्रिया करने वाले हैं। वह महान् तप कर रहे हैं। फिर भी उन्हें दुःख या निराशा तो होती ही नहीं। वह यही सोचते हैं—मैं क्षत्रिय कुल में जन्मा हूँ। कर्म-शत्रु को नष्ट करने के लिए तैयार हुआ हूँ। इसलिए मैं अन्तराय-रिपु की जड़ खोदकर ही दम लूँगा।

भगवान् के मुख से ढंढण मुनि की यह प्रशंसा सुनकर कृष्णजी बहुत आनन्दित हुए। वह भगवान् के पास से उठकर घर जा रहे थे कि सामने से आते हुए ढंढण मुनि मिल गये। कृष्ण ने उन्हें यथाविधि वन्दन-नमस्कार किया और कहा आप बहुत उत्कृष्ट तपस्वी हैं। भगवान् ने भी आपके उत्कृष्ट तप की प्रशंसा की है।

कृष्णजी ने ढंढण मुनि से जो बात कही, वह एक सेठ ने भी सुनी। उसने सोचा—ऐसे उत्कृष्ट तपस्वी को तो दान देना ही चाहिये। यह सोचकर उसने कहा—महाराज! पधारिये, मैं आपको आहार देकर कृतार्थ होना चाहता हूँ। मुनि उसके घर गये और सेठ ने उन्हें मोदकों का दान दिया। मगर मुनि ने सोचा—यह आहार मेरी लब्धि का है या नहीं, इस बात का निर्णय हुए बिना मैं उसका उपयोग नहीं कर सकता। भगवान् ज्ञानी हैं, उनसे पूछने पर मालूम हो जायगा कि यह मेरी लब्धि का है या नहीं?

महीनों बाद आहार मिला था। फिर भी ढंढण मुनि ने उसके संबंध में भगवान से पूछा—प्रभो! मुझे जो मोदक मिले हैं, यह मेरी लब्धि के हैं या किसी और की लब्धि के हैं?

भगवान् ने गंभीरता पूर्वक कहा—हे मुनि! हे वत्स! तू ने जो अभिग्रह लिया है, यह लड्डू उसमें बाधक हैं। तू ने अपनी

लब्धि का आहार लेने की प्रतिज्ञा की है मगर यह तेरी लब्धि का नहीं है। यह कृष्णजी की लब्धि का है। कृष्णजी ने तेरी प्रशंसा की थी और उसी की बदौलत तुझे यह मोदक मिले हैं।

भगवान् से यह सुनकर ढंढण मुनि ने कहा—तो मैं यह आहार ग्रहण नहीं करूंगा। इसे कहीं एकान्त में परठ दूंगा। न स्वयं खाऊंगा, न किसी और को दूंगा।

इसके बाद उन्होंने एकान्त में जाकर मोदकों का चूरा कर दिया। मुनि ने मोदक क्या चूरे, कर्मों को ही चूर डाला और केवलज्ञान प्राप्त किया।

भगवान् कहते हैं—हे मुनि! तू आहार आदि के न मिलने पर दुःख क्या लाता है, यह सोच कि यह सब मेरा ही किया हुआ है।

मतलब यह है कि इस तरह पहले तो भूतकाल पर दृष्टि देना चाहिये कि मैं जो भोग रहा हूं, वह मेरा ही किया है, किसी और का नहीं। फिर वर्तमान पर विचार करना चाहिये कि आहार मिल गया होता तो उसका उपभोग करता, नहीं तो सहज ही तप हो रहा है। फिर भविष्य की बात सोचनी चाहिये कि किये हुए कर्म आज न भोगता तो आगे कभी न कभी भोगने ही पड़ते। अगर उन्हें आज ही भोग रहा हूँ तो क्या हानि है? इस प्रकार तीनों कालों पर दृष्टि देने से समभाव की प्राप्ति होती है।

श्रावकों को यथासंभव मुनि की तरह समभाव रखना चाहिये। रोने-कलपने से कोई लाभ नहीं होता। रोने से शरीर क्षीण होता है, बल क्षीण होता है, बुद्धि स्थिर नहीं रहती, मूढ़ता आती है और चिकने कर्मों का बंध होता है।

गौतम स्वामी इस प्रकार समभाव रखने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ के विषय में आधा कर्मी आहार सम्बन्धी प्रश्न करते हैं कि—भगवन्! श्रमण निर्ग्रन्थ हो जाने पर भी यदि आधाकर्मी आहार न छूटा तो क्या फल होता है।

श्रमण का अर्थ कहा जा चुका है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है, किसी प्रकार की ग्रंथि में न रहना। कहा जा सकता है कि जो पुरुष आधाकर्मी आहार की ग्रंथी में है, वह श्रमण निर्ग्रन्थ कैसे कहला सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक वस्तु पर नाम, स्थापन, द्रव्य और भाव-इन चार निक्षेपों से विचार किया जाता है। इन चारों से विचार करने पर ही वस्तु का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान होता है। यहां नाम और स्थापना को छोड़कर द्रव्य और भाव के विषय में ही कहा है। इन दो निक्षेपों से ही यहां विचार करना है। भाव निक्षेप तो वस्तु के वर्तमान स्वरूप को ग्रहण करता ही है, मगर भूत या भविष्य कालीन वस्तुस्वरूप को ग्रहण करने वाले द्रव्यनिक्षेप के बिना भी काम नहीं चल

सकता। आधाकर्मी आहार करने वाला भावसाधु नहीं है, द्रव्यसाधु है और द्रव्यसाधु होने के कारण उसे निर्ग्रन्थ कहा है।

आधाकर्मी आहार करने वाला तो ख़ैर द्रव्य से साधु है भी, वस्तु का व्यवहार तो केवल नाम से भी होता है। किसी का नाम 'इन्द्रचन्द्र' है। उसमें इन्द्र और चन्द्र के गुण मौजूद नहीं है, फिर भी उसे 'इन्द्रचन्द्र' कहते हैं। आकार के कारण भी वस्तु उसी नाम से पुकारी जाती है। जैसे-एक खिलौना वास्तव में हाथी नहीं है, मगर हाथी के आकार का है, इसी लिए उसे हाथी कहते हैं। इस प्रकार गुण न होने पर भी नाम और स्थापना (आकार) के कारण उसी वस्तु का व्यवहार देखा जाता है। इसी तरह कोई पुरुष साधु हुआ है, मगर द्रव्यसाधु है-भावसाधु नहीं है, फिर भी वह साधु ही कहलाता है।

यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिये कि साधु होने का प्रयोजन क्या है ? पहले यह कहा जा चुका है कि समभाव रखने वाला ही साधु कहलाता है। अन्यान्य ग्रन्थों में भी साधु-पन का यही प्रयोजन बतलाया गया है। मनुस्मृति में कहा है-

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यो प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य ते जोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥

म० स्मृ० अ० ६, ३९.

स्थावर और जंगम-सब प्राणियों को अभय देने के लिए साधु हुआ है। गृहस्थ होने पर स्थावर और जंगम-सब प्राणियों

पर दया नहीं रख सकता था-सब को अभय नहीं दे सकता था, अतएव प्राणिमात्र पर दया रखने की भावना से साधु हुआ।

जम्बू स्वामी से उनके माता-पिता ने कहा था—हे जम्बू! तू ने सन्तों की संगति से दया सिखी है या हिंसा सिखी है? सुधर्मा स्वामी ने तुझे दया सिखाई है या हिंसा सिखाई है? उनकी संगति से तुझमें दया कहां रही? औरों की बात जाने दे, मनुष्यों पर भी तुझे दया नहीं रही। मनुष्यों में भी अपने माता-पिता पर भी तुझे दया नहीं! जिन्होंने पाल-पोस कर इतना बड़ा किया, उन मां-बाप पर भी तू दया नहीं करता! तू कहता है—मैं दया करने के लिए जाता हूँ; पर तू हम पर दया क्यों नहीं करता? हम जो कहते हैं, क्यों नहीं मानता? हमें क्यों दुखी कर रहा है।

माता-पिता की इस बात के उत्तर में जम्बूस्वामी ने कहा—हे पिताजी और माताजी! आपका कहना सत्य है। वास्तव में जिसके हृदय में दयादेवी का वास नहीं है, वह मनुष्य नहीं, दानव है। मगर मैं प्राणी मात्र पर दया करने के लिये ही संसार त्याग रहा हूँ। स्थावर और जंगम प्राणियों पर दया करने के निमित्त ही साधु बनना चाहता हूँ मैं संसार में रहकर दया नहीं कर सकता, इसीलिए साधु हो रहा हूँ। संसार में रहते हुए पूर्ण दया होना संभव नहीं है। मैं एक लोटा पानी पीता हूँ तो उसमें

भी मेरे अनेक माता-पिता मौजूद हैं ! क्या मैं उन्हें भूल जाऊँ? मैं उन्हें भी आपके समान समझकर उन पर भी दया करना चाहता हूँ।

जम्बूस्वामी की बात सुनकर माता-पिता कहने लगे—तुम उन पर किस प्रकार दया करोगे ? और वे तुम्हारे माता-पिता किस प्रकार हैं ?

यह बात समझाने के लिए जम्बूस्वामी ने जो उत्तर दिया वह एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ:—किसी सेठ के यहाँ एक कुलीन मुनिम था। वह मुनीम, सेठ से कहा करता—मैं जैसा कहूँ, वही करो तो अच्छा। मगर सेठ ने मुनीम की बात नहीं मानी। सेठ ने धन के लालच में पड़ कर कोई सट्टा जैसा व्यापार किया, जिससे सेठ का दिवाला निकल गया। सेठ के सिर पर कर्ज रह गया। सेठ, मुनीम से कहने लगा—'आप बहुत चतुर हैं मैंने आपका कहा माना होता तो आज यह दशा न होती ! लेकिन अब पछताने से क्या लाभ है ? जो होना था सो तो हो ही चुका।' मुनीम ने सेठ को धैर्य देकर कहा—'होनहार टलता नहीं। अब चिन्ता करना व्यर्थ है धैर्य रखना ही उचित है।'

सेठ कुछ दिनों तक मुनीम आदि का खर्च निभाता रहा, लेकिन आमदनी न रहने से आगे चलना कठिन हो गया। तब एक दिन उसने मुनीम को बुला कर कहा—'मैं अब आपका

खर्च नहीं निभा सकता। लाचार हूँ। आप अपने लिये अन्य प्रबंध कर लें।' यह कहते हुए सेठजी की आँखों में आंसू आगये। मुनीम को भी सेठ का काम छोड़ने में बड़ा दुःख था। उसने सेठजी को धैर्य बँधाया और कहा—कोई हर्ज नहीं है। यह तो समय की बात है। अगर मैं आपके यहाँ न रहूँ तो भी नौकर तो आपका ही हूँ। जब कभी कोई काम आपड़े, मुझे याद कीजिएगा।, इतना कह कर मुनीम, सेठ के यहाँ से अलग हो गया। मुनीम घर गया। सब जगह बात फैलगई कि अमुक सेठ का मुनीम छूट गया है।

उसी नगर में दूसरे सेठ को मुनीम की आवश्यकता थी। वह ईमानदार मुनीम की खोज में था। वह सोचता था-बालक अभी नादान है और ईमानदार मुनीम के बिना किसके भरोसे पर दुकान छोड़ सकता हूँ? मैं अब वृद्ध हो गया हूँ और मुझ से काम नहीं सँभलता। इस सेठ को उस मुनीम की ईमानदारी पर भरोसा था। उसने उसे बुलवाया और कहा—उन सेठ ने तुम्हारे जैसे मुनीम को छोड़ कर अच्छा नहीं किया। तुम इतने पुराने और ईमानदार आदमी थे, फिर भी उन्होंने तुम्हें छोड़ दिया, यह बहुत बुरा किया। सेठ ने मुनीम की परीक्षा लेने के लिए उस सेठ के विरुद्ध बहुत कुछ कहा-सुना मगर मुनीम ने अपने पुराने सेठ के विरुद्ध एक शब्द भी न कहा। उसने

सिर्फ यही कहा--जैसा मौका था, वैसा किया । और हो भी क्या सकता था ?

आखिर इस सेठ ने मुनिम को अपनी दुकान पर नियुक्त कर लिया । कुछ दिन व्यतीत होने पर सेठ ने मुनिम की परीक्षा करने का विचार किया । उसने मुनिम से एक वही मँगवाई । मुनीम वही लाया । उसमें से एक खाता निकलवाया और उसके संबंध में पूछताछ की । मुनीम ने बतलाया-अमुक सेठ में इतनी रकम बाकी निकलती है । सेठ ने मुनीम से पूछा-जिनमें रकम बाकी है, उन्हें जानते हो ? मुनीम ने कहा जानता क्यों नहीं, वह तो मेरे मालिक ही हैं तब सेठ ने कहा—तो जाओ, चार आदमियों को साथ लेकर यह रकम वसूल कर लाओ ।

मुनीम अपने पुराने सेठ के यहां गया । शिष्टाचार की बातें समाप्त होने पर मुनीम ने वही खोलकर सामने रख दी । उसने मुँह से कुछ कहा नहीं वही देखते ही सेठ समझ गया कि मुनीम रुपये लेने आया है । उसने सोचा मुनीम को मेरे घर का सारा हाल मालूम है कि मैं किस प्रकार अपना खर्च निभा रहा हूँ । दूसरा होता तो कुछ कहने की आवश्यकता होती । पर इन से क्या कहूँ । हाय, आज यह समय भी आ गया कि मेरा मुनीम मुझ से ही कर्ज वसूल करने आया है ! ऐसा सोचकर सेठ की आंखों से आंसू टपक पड़े । मुनीम ने कहा-आप धैर्य रखिए ।

घबराते क्यों हैं ? मालिक ने आज्ञा दी और मुझे यहां आना पड़ा । वहीं जवाब देना ठीक था । मैं सब बात जानता हूँ । जाकर समझा दूँगा । मुनीम लौटकर सेठ के पास गया । सेठने पूछा—रकम वसूल कर लाये ? मुनीम ने कहा—आज उनकी स्थिति देने योग्य नहीं है । मगर नीयत साफ है इसलिए किसी दिन, जब देने को होगा, दे देंगे । सेठ ने लाल आंखें करके कहा—नौकरी हमारी खाते हो और पक्ष उनका लेते हो ? आखिर तो उनका बड़ा घर है । गहने-कपड़े, बर्तन-भांडे कुछ तो होगा ही । वसूल करके लाना था । अगर यों नहीं देते तो नालिश करके वसूल करो । मुनीम ने कहा -उनकी जैसी इज्जत थी, उसके अनुसार गहने-कपड़े होंगे ही; मगर किसी को बेइज्जत करने का काम मुझ से न होगा । इज्जतदार वही है जो दूसरे को बेइज्जत न करे । सेठ कड़क कर बोला—जिसे रोटी की गर्ज होगी उसे सभी कुछ करना पड़ेगा । मुनीम बोला—मेरे घर जो कुछ है, उन्हीं का दिया हुआ है । जो कुछ आप लेना चाहें, मुझ से ले लें । मैं उनकी इज्जत नहीं बिगाड़ सकता । अगर आपको इससे भी संतोष नहीं है, तो यह चाबियाँ सँभालिये । मैं अपने घर जाता हूँ ।

सेठ ने मुनीम को बिठला कर कहा—आज ही आपको काम बतलाया और आज ही आप बिगड़ उठे । मुनीम ने धीमे

स्वर में कहा—मैं और सब कुछ कर सकता हूँ, मगर किसी की बेइज्जती नहीं कर सकता। आज मैं उनकी इज्जत लूँ, कल आपकी इज्जत पर भी हाथ डालना पड़ेगा।

मुनीम की बात सुनकर सेठ ने उसे धन्यवाद देते हुए कहा—'मुझे आपकी परीक्षा करनी थी। आज मैं निश्चय कर सका कि आप एक कुलीन और वफ़ादार आदमी हैं। आज आप इनका दिया हुआ नहीं खाते, फिर भी आपको उनकी प्रतिष्ठा का खयाल है, तो मेरी प्रतिष्ठा का भी आपको ध्यान रहेगा। यह मैं समझ गया। मैं आज से सारा काम आपको सौंपता हूँ—तुम जानो और यह काम जाने।' इस प्रकार कहकर सेठ ने सबको बुलाकर कह दिया—इन्हें मेरी जगह समझ कर सब लोग इनकी आज्ञा का पालन करना।

जम्बू स्वामी कहते हैं—उस मुनीम ने अपने पुराने मालिक की प्रतिष्ठा नष्ट नहीं की, यह अच्छा काम किया। जैसे सेठ ने मुनीम की परीक्षा की थी, वैसे ही आप मेरी परीक्षा कर रहे हैं। इसीलिये आप कहते हैं कि माता-पिता पर दया न करके उन्हें रोता छोड़ कर जा रहा है। लेकिन मुझ में दया न होती तो संसार क्यों छोड़ता ? क्या निर्दय बेटे संसार के सुखों के लिये मां-बाप पर घोर अत्याचार नहीं करते ? आप मुझे घर में रहने के लिये कहते हैं, मगर मैं रहता क्यों नहीं इसीलिये

कि एक लोटा पानी में भी मेरे अनेक मां-बाप हैं। मैं नास्तिक नहीं हूँ जो यह समझ लूँ कि मैं आज ही हूँ, पहले नहीं था। मैं आज ही नहीं जनमा हूँ। अनादि काल से जन्म धारण करता आया हूँ। अनेक बार पानी के जीवों का बेटा हुआ हूँ और अनेक बार वे मेरे बेटे हुए हैं। मैं आपको इसीलिये छोड़ता हूँ कि आप के पास रहकर मैं अपने पुराने मां-बाप के प्रति दया नहीं रख सकता। मैं दया के खातिर ही संसार को त्यागना चाहता हूँ।

जो सब जीवों को आत्मा के तुल्य मानता है, वह कभी हिंसा नहीं करेगा। वह किसी की चोरी नहीं करेगा। किसी को झूठ बोलकर नहीं ठगेगा। पराया समझ कर ही कोई किसी के साथ दुर्व्यवहार करता है। जीव मात्र को आत्मतुल्य समझने वाला कभी किसी के साथ बुरा व्यवहार नहीं कर सकता। जो बुरा काम करता है, उसके घट में से दया पहले ही निकल जाती है। अतएव बुरे कामों से बचने के लिये आत्मीयता की भावना धारण करना आवश्यक है।

जो प्राणी मात्र को आत्मतुल्य मानने के लिये साधु हुआ है, वह आधाकर्मी और औद्देशिक आहार नहीं करता। वह सोचता है—मैं सब जीवों की दया करने के लिये निकला हूँ और मेरे निमित्त किसी जीव की हिंसा हो तो ऐसा आहार मैं

कैसे खा सकता हूँ ? जीवमात्र को आत्मतुल्य मानने के लिये जो श्रमण निर्ग्रन्थ हुआ है, वह अगर आधाकर्मी आहार करता है तो उसे क्या फल भोगना पड़ता है ? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है।

कहने को तो सभी यह कहेंगे कि प्राणीमात्र आत्मवत् है, लेकिन इस भावना को व्यवहार में सदैव पालन करना बहुत कठिन है। अन्य साधु कहलाने वाले लोग भी खाने-पीने में स्वच्छन्दता पूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, लेकिन जैन साधु प्राणी-मात्र को आत्मवत् जान कर कभी आधाकर्मी या औद्देशिक आहार नहीं करते। वे किसी जीव को कष्ट पहुंचना सहन नहीं करते।

जो आहार किसी अमुक साधु के निमित्त बनाया जाता है, वह आधाकर्मी आहार कहलाता है। गृहस्थ तो अपने लिये भोजन बनाते या बनवाते ही हैं, इसलिये यहां गृहस्थ का प्रश्न नहीं है। यहां साधु के सम्बन्ध में ही प्रश्न किया गया है। साधु के निमित्त किसी सचित्त खाद्य वस्तु को अचित्त बनाना भी आधाकर्मी आहार है। जैसे, पानी, मिट्टी या वनस्पति आदि सचित्त है, लेकिन गृहस्थ यह सोचकर कि साधु सचित्त नहीं लेंगे, सचित्त जल को अचित्त करके रक्खे, साधु के लिये सचित्त जल को अचित्त करके रख छोड़े, अथवा साधु के लिये

पकवान आदि बनाकर रक्खे, तो यह सब आधाकर्मी आहार है। दूध, चावल और शक्कर जैसे पदार्थ अचित्त हैं, मगर उन्हें मिला कर साधु के लिये कोई पकावे और खीर बनाकर रक्खे तो वह भी आधाकर्मी आहार है।

यह बात सिर्फ आहार के विषय में ही नहीं, किन्तु मकान के विषय में भी है। साधु जैसे आधाकर्मी आहार नहीं लेते, उसी प्रकार आधाकर्मी मकान में भी नहीं ठहरते। जो मकान साधु के लिए बनाया गया हो, वह आधाकर्मी मकान है। इस प्रकार के मकान में भी साधु नहीं उत्तर सकता।

इस प्रकार का बारीक विचार अन्य शास्त्रों में नहीं देखा जाता। जो सिद्धान्त माता-पिता की तरह उपकारी है, उसीमें इतनी गहराई के साथ विचार किया गया है।

मकान और भोजन के समान वस्त्र भी आधाकर्मी हो सकता है। जो वस्त्र साधु के लिए बनाया गया हो, वह आधाकर्मी वस्त्र है और उसे साधु ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार पात्र आदि भी, अगर आधाकर्मी हों, साधु नहीं लेता। यह साधु का आचार है।

कोई पूछ सकता है कि इस तरह का आहार, मकान, वस्त्र, पात्र आदि साधु क्यों अंगीकार नहीं करते? इस प्रश्न के समाधान के लिए यह समझ लेना जरूरी है—कि कोई भी पुरुष

साधु क्यों बना है ? तप, पढ़ाई, व्याख्यान देना, ख्याति प्राप्त करना, इत्यादि काम तो गृहस्थी में रहते हुए सुविधा पूर्वक किये जा सकते हैं फिर साधु होने का प्रयोजन क्या है ? जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिये साधु हुआ है, वह प्रयोजन इस प्रकार के आहार आदि लेने पर पूरा नहीं होता। इसी कारण आधाकर्मी आहार आदि का निषेध है।

बहुत से लोग आजकल साधु होने का विरोध करते हैं और कई लोग उस विरोध में असभ्य टीका कर डालते हैं। वास्तव में ऐसी टीका होने का कारण साधु ही हैं। साधुओं ने ही इस प्रकार की टीका होने का अवसर दिया है कई लोग साधु तो बन गये किन्तु साधु का आचार ठीक तरह पालन नहीं करते। उन्हें देखकर ही लोग साधुपन का विरोध करते हैं। लेकिन सच्चा साधु इस प्रकार के विरोध से घबराता नहीं है। वह टीका सुन कर अपने आचार में और अधिक दृढ़ होता है। लोग कितना ही विरोध करें, मगर संसार साधुओं से रहित नहीं हो सकता। गृहस्थों में बहुत-से सुधारक हुए, फिर भी साधुओं की सदैव आवश्यकता रही है।

जिसके अन्तःकरण में प्राणी मात्र के प्रति दया का भाव प्रकट होगा, उसके लिए साधु होने के सिवा और कोई चारा ही नहीं है। बहुतेरे लोग मनुष्य को ही प्राणियों में गिनते हैं और

जीवों को वे जीव ही नहीं समझते ! ईसाईयों ने तो यहाँ तक कह दिया कि गाय में आत्मा ही नहीं है। उन्हें गाय मारकर खाना है, इसलिए गाय में आत्मा ही नहीं बतलाते। मगर वास्तविक दृष्टि से मनुष्य में ही नहीं वरन् अन्य प्राणियों में भी आत्मा है। यहाँ तक कि जंघम जीवों में ही नहीं, स्थावर जीवों में भी आत्मा है। वृक्ष में आत्मा नहीं होती तो वह बढ़ता कैसे ? पत्थर भी बढ़ता है उसमें भी जीव है। वनस्पति और पृथ्वीकाय में आत्मा का अस्तित्व जगदीशचन्द्र वसुने सिद्ध किया है। जगदीशचन्द्र ने अब यह बात बतलाई, लेकिन शास्त्रकारों ने हजारों वर्ष पहले यह बात लिख दी है।

पृथ्वी, पानी आदि के सब जीवों पर दया उत्पन्न होने पर ही साधुत्व अंगीकार किया जाता है। गृहस्थावस्था में जंगम जीवों की ही थोड़ी-बहुत दया पाली जा सकती थी, स्थावर जीवों की नहीं। मगर स्थावर जीवों पर भी दया करने के लिए साधुता धारण की जाती है।

साधु होकर के भी जिसने अपने खुद के लिए बना हुआ आहार, वस्त्र, पात्र आदि लिया उसने स्वयं हिंसा न करके दूसरे से करवाई। ऐसा करके वह पाप से नहीं बच सकता। वह प्राणी मात्र पर दया पालने वाला नहीं है। बल्की ऐसा करके उसने दुगुना पाप किया-एक तो हिंसा का, दूसरा की गई प्रतिज्ञा के

भंग का। इसलिए गौतम स्वामी पूछते हैं कि आधाकर्मी आहार लेने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ का कार्य अच्छा है या बुरा है ? ऐसा कर के वह क्या उपार्जन करता है ? क्या विशेष उपार्जन करता है ?

वन्ध चार प्रकार का होता है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबंध प्रदेशबन्ध और अनुभागवन्ध। इन चारों के विषय में गौतम स्वामी पूछते हैं कि वह क्या बाँधता है ? यह प्रश्न प्रकृति बन्ध की अपेक्षा किया गया है।

इसके पश्चात् स्थिति की अपेक्षा से प्रश्न किया गया है कि आधाकर्मी आहार करने वाला क्या करता है ? अर्थात् कैसी स्थिति वाले कर्म बांधता है ? तदनन्तर यह प्रश्न किया गया है कि वह किसका चय करता है—अर्थात् कैसे अनुभाग (रस) वाले कर्म बांधता है ? अन्त में प्रदेशबंध की अपेक्षा से अथवा निकाचित कर्म की अपेक्षा से पूछा गया है कि आधाकर्मी आहार करने वाला किसका उपचय करता है ?

प्रश्न होता है—साधु अपने लिए बना हुआ आहार, वस्त्र और मकान नहीं लेता, यह तो ठीक है, क्योंकि गृहस्थों को इन चीजों की आवश्यकता रहती है, इस कारण साधु को भी मिल जाती हैं। लेकिन पात्र तो गृहस्थ के काम नहीं आते। वह साधु के लिए ही बनाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में साधु पात्र कैसे ले सकते हैं ?

सैद्धान्तिक दृष्टि से यह प्रश्न उठ नहीं सकता, क्योंकि सिद्धान्त में स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु मिट्टी, तूँबा और लकड़ी–तीनों तरह के पात्र रख सकता है। इसलिये लकड़ी के पात्र रखने में सिद्धान्त सम्बन्धी कोई बाधा नहीं है। साधु तूंबा और मिट्टी के भी पात्र रख सकते हैं। मिट्टी या तूंबे के पात्र हमारे लिये ही बनाये जाते हों, सो भी बात नहीं है। तूंबे लगते ही हैं और मिट्टी के पात्र गृहस्थों के भी काम आते हैं। इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। लेकिन आप साधुओं के पास मिट्टी या तूंबे के पात्र कम देखते हैं और लकड़ी के पात्र, जिस ढांचे के साधुओं के पास होते हैं, उस ढांचे के गृहस्थ काम में नहीं लाते। इसी कारण यह प्रश्न उठता है। मगर उसके लिये साधुओं से पूछो कि वे पात्र कहां से लाते हैं? अगर वह साध के लिये मोल खरीदे हुए पात्र लाते हों तो निस्संदेह दोष के भागी हैं। अलबत्ता दीक्षा लेने वाला वैरागी खुला हुआ है। वह अपने लिये मोल भी ले सकता है। साधु या तो उस वैरागी के पात्र, जब वह दीक्षा लेकर साधु होता है, लेता है या उस से बचे हुए काम में लाता है। साधु अपने लिए खरीदे हुए पात्र काम में नहीं ले सकता।

जो साधु आधा कर्मी आहार आदि का उपभोग करता है, उसे क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान्

फर्माते हैं—ऐसा साधु आयु कर्म की प्रकृति को छोड़ कर शेष सात कर्म प्रकृतियों को, अगर पहले वह शिथिल बँधी हों तो प्रगाढ़ कर लेता है। आयु कर्म जीवन में एक ही वार बँधता है, लेकिन शेष सात प्रकृतियाँ अगर ढीली बँधी हुई होती हैं तो उन्हें कठिन बाँध लेता है। यह उत्तर प्रकृति बँध की अपेक्षा से समझ लेना चाहिए।

अब स्थितिबंध के सम्बन्ध में कहते हैं। अगर उस मुनि ने पहले ढीली स्थिति का बंध किया है तो आधाकर्मी आहार करने से अब मजबूत स्थिति बांधता है। 'बंधइ' और 'पकरइ' में यही अन्तर है। 'बंधइ' पद प्रकृतिबंध की अपेक्षा से है और 'पकरइ' पद स्थितिबंध की अपेक्षा से है।

प्रश्न होता है—'चिणइ' और 'उवचिणइ' में क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि 'चिणइ' पद रसबंध (अनुभागबंध) की अपेक्षा से है और 'उवचिणइ' पद प्रदेशबंध की अपेक्षा से है। मतलब यह है कि पहले जो सामान्य कर्म थे, उन्हें निकाचित भी कर लेता है।

कर्मबंध की चार अवस्थाएँ हैं—स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित। इन चारों का स्वरूप एक उदाहरण से समझने में सुभीता होगा। एक पर एक सुइयां रक्खी हों तो वह सुई का पुंज है, परन्तु वह जरा-सा धक्का लगते ही बिखर जाता है। उसे स्पृष्ट कर्म-बंध कहते हैं। इसी प्रकार जो कर्म थोड़े से प्रयत्न

करने से ही निर्जीर्ण हो जाते हैं। अर्थात् जो सुई के पुंज के समान हैं, उसे स्पृष्ट कहते हैं।

अगर उन सुइयों को किसी तागे से बांध दिया जाय तो वे किसी तरह की क्रिया विशेष से ही खुल सकती हैं। इसी प्रकार जो कर्म थोड़ी क्रिया विशेष से हट जाते हैं, वे बद्ध कहलाते हैं।

तीसरा निधत्तबंध ऐसा है, जैसे सुइयों के पुंज को लोहे के तार से बांध दिया जाय। यह सुइयां भी खुल तो जाएँगी मगर किसी विशिष्टतर क्रिया से खुलेंगी। इसी प्रकार विशिष्टतर क्रिया से नष्ट हो सकने वाले कर्म को निधत्त कहते हैं।

चौथा निकाचितबंध है। सुइयों के पुंज को गर्म करके घन से ठोक दिया जाय, तो वे एकमेक हो जाती है। उनका बिखरना संभव नहीं है। फिर से सुई बनाने की क्रिया करने पर ही वह अलग हो सकती है इस तरह जो कर्म और किसी भी क्रिया से नहीं छूटते, किन्तु जिस रूपमें बांधे हैं उसी रूपमें भोगने पर छूटते हैं, उनका बंध निकाचितबंध है। निकाचित कर्म तप आदि किसी भी क्रिया से निर्जीर्ण नहीं होते।

'उवचिणाइ' का अभिप्राय निकाचित कर्म से है। अर्थात् पहले जो सामान्य कर्म बांधे हैं, उन्हें निकाचित करना उपचय करना कहलाता है।

आधाकर्मी आहार भोगने वाला आयु को छोड़ और सब कर्मों का बंध करता है तथा निकाचित बंध भी कर लेता है।

भगवान् का यह उत्तर सुनकर गौतम स्वामी ने फिर पूछा-भगवन्! आधाकर्मी आहार भोगने वाला मुनि ऐसा कठिन कर्म क्यों बाँधता है।

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—हे गौतम! उसने जो धर्म स्वीकार किया था, उसका उल्लंघन कर दिया। वह पृथ्वी काय से लेकर त्रस काय तक के जीवों की दया के लिए साधु हुआ था, लेकिन आधाकर्मी आहार करके वह पृथ्वीकाय से त्रसकाय तक के जीवों का जीवन नहीं वाँछता।

भीखमजी के अनुयायी तेरह पंथी कहते हैं—किसी जीव का जीना नहीं वांछना चाहिए। अन्यथा व; जीव जीवित रह कर जो पाप करेगा, उस जीवन वांछने वाले को वह पाप लगेगा। इस प्रकार कह कर वे सूयगडांग का 'जीवियं न वंछइ' पाठ बतलाते हैं। लेकिन भगवती सूत्र का यह पाठ स्पष्ट बतला रहा है कि आधाकर्मी आहार भोगने वाला जीवों का जीना नहीं वांछता, इसलिए अपने धर्म का उल्लंघन करता है और पाप का भागी होता है। क्या पृथ्वीकाय के जीव साधु हैं, जो उनके जीवन की वांछा करने के लिए कहा है? तेरह पंथियों के मत के अनुसार साधु के सिवा और किसी का अर्थात् असंयमी का जीवन बांछना

पाप है और यहां बतलाया है कि आधाकर्मी आहार भोगने वाला पृथ्वीकाय से त्रसकाय तक के जीवों का जीवन नहीं वांछता, इस लिए उसे निकाचित कर्म भी बांधने पड़ते हैं।

तेरह पंथी किसी के जीवन की वांछा न करने का उपदेश देते हैं, मगर ऐसा किये बिना किसी जीव की दया नहीं पाली जा सकती। दूसरे जीवों का जीवन चाहने वाला, जीवन चाह कर उन जीवों द्वारा पाप नहीं कराना चाहता, फिर उस जीव द्वारा किये हुए पाप जीवन चाहने वाले को कैसे लग सकते हैं ?

भगवान् कहते हैं—गौतम ! आधाकर्मी आहार भोगने वाला जीवों का जीवन नहीं चाहता और जिन जीवों के पुद्गल उसके काम में आये हैं, उनके प्रति वह अपराधी है, इसी कारण वह कठिन कर्म बाँधता है और कठिन कर्म बाँधकर संसार-परिभ्रमण करता है।

प्रासुक-एषणीय आहार

मूलपाठ—

प्रश्न—फासु-एसणिज्जं भंते ! भुंजमाणे किं बन्धइ, जाव-किं उवचिणाइ ?

उत्तर—गोयमा ! फासु-एसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपयडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेति । जहासंवुडेणं, नवरं—आउयं च णं कम्मं सियबंधइ, सियनोबंधइ, सेसं तहेव, जाव वीइवयइ ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं जाव-वीइवयइ ?

उत्तर—गोयमा ! फासु एसणिज्जं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आयाए धम्मं नो अइक्कमइ.

आयाए धम्मं अणइक्कममाणे पुढविक्काइयं अव-कंखति, जाव तसकायं अवकंखति; जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहारेइ, ते वि जीवे अवकंखइ, से तेणट्ठेणं जाव-वीइवयइ ।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—प्रासुकैषणीयं भगवन् ! भुञ्जानः किं बध्नाति, यावत्—उपचिनोति ?

उत्तर—गौतम ! प्रासुकैषणीयं भुञ्जानः आयुष्कवर्जाः सप्तकर्म प्रकृतीः दृढबन्धनबद्धाः शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति, यथा संवृतः । नवरम्—आयुष्कञ्चकर्म स्याद् बध्नाति, स्याद् नो बध्नाति । शेषं तथैव, यावत् व्यतिव्रजति ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन यावद् व्यतिव्रजति ?

उत्तर—गौतम ! प्रासुकैषणीयं भुञ्जानः श्रमणो निर्ग्रन्थः आत्मनो धर्मं नातिक्रामति । आत्मनो धर्मं अनतिक्रामन् पृथिवीकायिकम् अवकाङ्क्षति, यावत् त्रसकायम् अवकाङ्क्षति । येषामपि च जीवानां शरीराणि आहरति, तानपि जीवान् अवकाङ्क्षति तत् तेनार्थेन यावत् व्यतिव्रजति ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—हे भगवन्! प्रासुक और निर्दोष आहार भोगने वाला श्रमणनिर्ग्रन्थ क्या बांधता है? और यावत्-किसका उपचय करता है?

उत्तर—हे गौतम! प्रासुक और निर्दोष आहार भोगने वाला (श्रमण निर्ग्रन्थ) आयुकर्म के अतिरिक्त सात मजबूत बँधी हुई कर्म प्रकृतियों को ढीली करता है। उसे संवृत अनगार के समान समझना। विशेषता यह है कि आयुकर्म को कदाचित् बांधता है और कदाचित् नहीं बाँधता। शेष उसी प्रकार समझना यावत् संसार को पार कर जाता है।

प्रश्न—भगवन्! इस का क्या कारण है कि यावत्-संसार को पार कर जाता है।

उत्तर—गौतम! प्रासुक और निर्दोष आहार भोगने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अपने धर्म का उल्लंघन नहीं करता। अपने धर्म का उल्लंघन न करता हुआ वह श्रमण निर्ग्रन्थ पृथ्वीकाय के जीवों का जीवन वांछता है, यावत् त्रसकाय के जीवों का जीवन वांछता है, और जिन जीवों के शरीरों

का वह आहार करता है, उन जीवों का भी जीवन वांछता है। इस कारण यावत्--वह संसार को पार कर जाता है।

व्याख्यान-

गौतम स्वामी ने पहले जो प्रश्न किया था, वही प्रश्न व्यतिरेक रूप में यहां किया गया है। जो श्रमण निर्ग्रन्थ आधाकर्मी आहार आदि नहीं भोगते, उनके विषय में यहाँ प्रश्न किया है।

कोई जीव किसी जीव को या मनुष्य को दुःख न देने की प्रतिज्ञा करे तो उस प्रतिज्ञा का ठीक तरह पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसा कोई काम न करे, जिससे उसे दुःख पहुँचता हो। जब तक ऐसे कामों को न छोड़ा जाय तब तक उसकी प्रतिज्ञा निभ नहीं सकती। जीव को या मनुष्य को केवल मारने-पीटने से ही दुःख नहीं होता, किन्तु अन्यान्य कारणों से भी दुःख पहुँचता है और जब तक ऐसे कारण न त्यागे जाएँ तब तक उसकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो सकती। अतएव ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले को ऐसे सब काम त्यागने होंगे, जिनसे किसी जीव को कष्ट पहुँचता है।

साधु षट्काय के जीवों को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा निभाने के लिये ही साधु हुआ है। अगर कोई गृहस्थ इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना चाहता है तो उसे साधु बनना ही होगा। साधु हुए बिना उसका निभाव ही नहीं हो सकता।

कदाचित् कोई ऐसा विचार करे कि मैंने मनुष्य को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की है, लेकिन कम न देने की प्रतिज्ञा नहीं की। ऐसा विचार कर वह कम तोल कर दे और उस मनुष्य को ऊपरी मीठी बातों से राजी भी कर दे तो भी वह मनुष्य को कष्ट देने वाला है। क्योंकि केवल कष्ट पाने वाले की साक्षी से ही कष्ट देना नहीं कहलाता, किन्तु स्वयं की या ज्ञानी की साक्षी से उस ने उसे कष्ट दिया है। इसलिए वह मनुष्य को कष्ट देने का अपराधी है।

मनुष्य को कष्ट न पहुँचाने की प्रतिज्ञा करने वाले को वह सारे ही कारण त्यागने होते हैं, जिनसे मनुष्य को कष्ट होता है। उदाहरण के लिए चाय को लीजिए। सुना जाता है कि चाय के लिए मनुष्यों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। चाय के बगीचों में ज्यादा काम लेने के लिए मजदूरों को बुरी तरह मारा-पीटा जाता है। यहां तक कि कइयों का अंग-भंग हो जाता है और कभी-कभी कोई मर भी जाता है। अगर यह बात सत्य हो तो चाय पीने वाला मनुष्य भी मनुष्य को कष्ट देने वाला ठहरता है। वह यह कहकर अपना बचाव नहीं कर सकता कि मैं सिर्फ चाय पीता हूँ-मनुष्य को कष्ट नहीं देता। जिस चाय के लिए मनुष्य को कष्ट होता है, उसका उपयोग करना मनुष्य को कष्ट पहुँचाना है। अगर चाय पीने वाले चाय न पीएँ तो चाय के लिए किसी को कष्ट ही क्यों हो ? यही बात मिल के वस्त्रों के

संबंध में समझनी चाहिए। मिल में काम करने वालों की आयु कम हो जाती है। वे रोगग्रस्त होकर जल्दी ही मर जाते हैं। यद्यपि अज्ञान के कारण पैसे के लोभ में पड़कर वे इस बात का विचार नहीं करते, लेकिन मनुष्य को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा करने वाला मिल के वस्त्र नहीं पहन सकता। अगर वह पहनता है तो अपनी प्रतिज्ञा भंग करता है। अगर पहनने वाले मिल के वस्त्र न पहनें तो वह बनाये ही क्यों जाएँ? और उनके निमित्त से मनुष्यों को कष्ट भी क्यों पहुंचे? तात्पर्य यह है कि जब तक कष्ट पहुँचाने वाले कारणों का त्याग न किया जाय, तब तक कष्ट न पहुँचाने की प्रतिज्ञा का पालन नहीं होता।

जो श्रमण निर्ग्रन्थ अपनी किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाने की प्रतिज्ञा का भली-भाँति पालन करते हैं, उन्हें क्या फल प्राप्त होता है? इसी विचार से गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है कि प्रासुक और एषणीय आहार आदि को भोगने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को किस फल की प्राप्ति होती है?

संक्षेप में प्रासुक का अर्थ है—अचित्त या निर्जीव। साथ ही उस वस्तु से भी अभिप्राय है, जिसका सम्बन्ध किसी जानदार से नहीं है। अर्थात् जो वस्तु स्वयं अचित हो और सचित्त के साथ जिसका संयोग न हो, वह प्रासुक कहलाती है। बड़े दोष से रहित वस्तु को एषणीय कहते हैं। सचित्त या सचित्त से लगी

हुई वस्तु अप्रासुक है। ऐसी अप्रासुक वस्तु साधु के लिए ग्राह्य नहीं होती। जैसे होम्योपैथिक दवाई किसी तेज गंध वाली एलोपैथिक दवा के सन्निकट रक्खी जाय तो वह बेकाम हो जाती है। इसी प्रकार जो वस्तु स्वयं प्रासुक है, मगर अप्रासुक से लगी हुई है तो वह साधु के काम की नहीं। गौतम स्वामी का प्रश्न है कि जो साधु बयालीस दोष रहित प्रासुक और एषणीय आहार करता है, उसे क्या फल होता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—गौतम! या तो वह उसी भव में मोक्ष जाता है या कर्म शेष हों तो गाढ़ी बँधी हुई सात प्रकृतियों को ढीली करता है। वह आयु कर्म कभी बाँधता है और कभी नहीं बाँधता। लेकिन गाढ़ी प्रकृतियों को ढीली तो करता ही है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि-शास्त्र के कथनानुसार किये हुए कर्म भोगे बिना नहीं छूट सकते। ऐसी अवस्था में जप, तप करना और साधु होना वृथा ही क्यों नहीं ठहरता है? कहा भी है:—

कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।

अर्थात्–किये कर्मों से भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र का पूर्वोक्त कथन निकाचित कर्म की अपेक्षा से है। निकाचित कर्म भोगे बिना नहीं छूटते, पर उनमें स्थितिघात और रसघात तो होता ही है।

कुछ लोगों का कथन है कि आहार किस लिये बनाया है, क्यों बनाया है, कैसा है, इन पचड़ों में साधु को पड़ने की क्या आवश्यता है ? किसी के लिये क्यों न बनाया गया हो और कैसा भी हो, साधु को समभाव से ले लेना चाहिये इसका उत्तर यह है कि साधु को ज्ञानी होना चाहिये या अज्ञानी ही रहना चाहिये ? अगर पूछताछ करने का निषेध किया जाय तो इसका अर्थ होगा, साधु को अज्ञान रहना चाहिये अज्ञान वादियों की मान्यता है कि अनजान को कम पाप लगता है और जानकार को ज्यादा पाप लगता है, इसलिये अनजान रहना ही अच्छा है लोक व्यवहार में भी जानबूझ कर अपराध करने वाले की अपेक्षा अनजान में अपराध करने वाले को कम दंड मिलता है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञान ही पाप का कारण ठहरता है। जिसे ज्ञान नहीं है उसे पाप भी नहीं लगता।

ऐसा कहने वाले अज्ञानवादियों से पूछना चाहिए कि 'अज्ञान अच्छा और ज्ञान बुरा है' यह ज्ञान तुमने क्यों प्राप्त किया है ? और इस ज्ञान का प्रचार क्यों करना चाहते हो ? एक तरफ तुम अज्ञान को अच्छा बतलाते और दूसरी तरफ ज्ञान का प्रचार करते हो, क्या यही विवेकशीलता है ? इसके अतिरिक्त अनजान में पाप करने वाले को न्यायाधीश कम दंड देता है सो वह न्यायाधीश यह निर्णय ज्ञान से करता है या अज्ञान से कि 'इसने अनजान में अपराध किया है। अज्ञान से निर्णय

नहीं किया जा सकता। निर्णय करने का काम ज्ञान से ही सम्पन्न हो सकता है। अतएव यह कहना मिथ्या है कि अज्ञान रहने से पाप टल जाता है। इसके सिवाय जान कर हिंसा करना जानकारी नहीं है, किन्तु जानकर हिंसा से बचना ही सच्ची जानकारी है।

यहां प्रसंगवश एक बात याद आ गई। मैंने दक्षिण में ईसाइयों की एक पुस्तक में पढ़ा था कि हिन्दू लोग अन्न और जल में जीव मानकर ज्यादा पाप करते हैं। उसमें यह लिखा था हम और तुम बकरे में एक ही जीव मानते हैं और आप अनाज के एक-एक दाने में पानी के एक एक बूँद में भी जीव मानते हैं। इस हिसाब से हम लोग एक जीव-बकरा-मारकर दस-बीस आदमियों का पेट भरते हैं और तुम हजारों दानों के हजारों जीवों की हिंसा करते हो। अनाज पैदा करने में और उसे तैयार करने में कितना ज्यादा पाप होता है! पहले तो जमीन खोदने में ही पाप होता है। फिर उसमें दाने डालते हो और दानों में भी जीव मानते हो, इसलिये दानों का भी पाप लगता है। फिर खेती को पानी पिलाते समय पानी के जीवों का पाप होता है। पौधा बड़ा होता है तब उसमें आ-आकर कितने ही जीव मरते हैं। अनाज पीसने में और रोटी बनाने में भी जीवहिंसा होती है। यह सब पाप भी लगता है। इस प्रकार अन्न खाने में हिंसा ही हिंसा होती है और बकरा खाने में केवल एक जीव की हिंसा होती है और दस-बीस आदमियों का पेट भर जाता है।

उस पुस्तक में विस्तार के साथ यह हिसाब बतलाया गया है। उसे पढ़ कर कोई साधारण आदमी यही समझ बैठेगा कि बात ठीक है, लेकिन यह सब कथन गम्भीरतापूर्वक विचार न करने का फल है। इस का उत्तर मैंने इस प्रकार दिया था—

गृहस्थ लोग मोटी हिंसाका त्याग कर सकते हैं, छोटी हिंसा का त्याग करना उनके लिये शक्य नहीं है इसलिये गृहस्थ अन्न आदि की छोटी हिंसा से बना हुआ भोजन करते हैं साधुओं ने छोटी हिंसा भी त्याग दी है। वे छोटी-सी हिंसा भी नहीं करते किन्तु भिक्षा माँगकर खाते हैं। जो छोटी हिंसा नहीं त्याग सके, वे अन्न पकाकर खाते हैं, लेकिन आप तो अपना ही पक्ष भूल रहे हैं। आप बकरा खाने में कम पाप बतलाते हैं और अनाज की पैदाइश आदि का हिसाब लगा कर अनाज खाने में ज्यादा पाप बतलाते हैं। अगर अनाज पाप करने से पैदा हुआ है तो बकरा क्या आसमान से टूट पड़ा है ? वह आसमान से नहीं आया। अनाज आबी (पानी की) नस्ल है और बकरा पेशाबी नस्ल है। आबी नस्ल और पेशाबी नस्ल में कितना फर्क है, यह बात हम तो जानते ही हैं, लेकिन मुसलमान से पूछो तो उससे भी मालूम हो जाएगा। मुसलमान लोग पेशाब का एक छींटा लग जाए तो भी उसे नापाक होना मानते हैं और उसे पानी से ही साफ करते हैं। ऐसी हालत में जो आदमी आबी नस्ल और

पेशाबी नस्ल को एक मानता है, उसे क्या कहा जाय ? वह मानों पानी और पेशाब को ही एक मानता है।

अनाज की पैदाइश का हिसाब लगाने वाले बकरे की पैदाइश का हिसाब क्यों नहीं लगाते ? बकरा जब बकरी के गर्भ में आया तब उसे बकरी के आहार में से आहार मिला। बिना आहार किये गर्भ जीवित ही नहीं रह सकता। बकरी ने पाला, अनाज, पानी आदि खाया-पिया है और उससे गर्भ को आहार मिलता है। तभी गर्भ बढ़ सका है। इस प्रकार बकरी के गर्भ में रहने पर पाले, पानी आदि की हिंसा हुई ही। फिर बकरा जब पैदा होकर दूध पीने लगा तो पाले, पानी अनाज आदि की हिंसा हुई, क्योंकि इन्हीं चीजों से दूध बनता है। जब बकरा कुछ और बढ़ा तो वह अनाज खाने लगा, पाला खाने लगा, पानी तो वह पीता ही था। ऐसा करते-करते ही वह बड़ा हुआ। अब बकरे के लिए जो हिंसा हुई, उसका हिसाब लगाओ। वह अनाज की हिंसा से कितनी अधिक है ! यह हिसाब लगाने पर मालूम होगा कि ज्यादा पाप अन्न खाने में है या बकरा खाने में ?

आबी पैदाइश में जीव है, यह तो सच है लेकिन पेशाबी पैदाइश के जीवों में जितनी स्पष्ट चेतना है, उतनी स्पष्ट उसमें नहीं है। पेशाबी पैदाइश को मारने में ज्यादा कठोर और उग्र परिणाम अपेक्षित है। इसलिए उसकी हिंसा से पाप भी अधिक लगता है।

अन्न पैदा करके खाने वाले गृहस्थ भी अन्न खाने में हिंसा मानते हैं, लेकिन अन्न सकारण खाया जाता है। गृहस्थ का उद्देश्य शरीर की रक्षा करना है और जीव की रक्षा करना भी है। संसार में बैठे हुए लोग गृहस्थ हैं और शरीर की रक्षा का इससे कम हिंसा वाला और कोई उपाय नहीं है। इसी लिये लाचार होकर अन्न खाना पड़ता है। लाचार होकर काम करने में और मस्ती से काम करने में कोई अन्तर है या नहीं? लाचार हो पाप करने में और मस्ती में आकर पाप करने में अन्तर है। अन्न लाचारी की हालत में खाना पड़ता है। स्वयं की हिंसा भी पाप है और दूसरे की हिंसा भी पाप है। ऐसी दशा में कोई भी गृहस्थ सर्वथा निष्पाप कैसे रह सकता है? इसका एक ही उपाय है कि शरीर-नाश की महाहिंसा से बचने के लिये गृहस्थ वही काम करता है, जिससे कम से कम हिंसा हो। मान लीजिये, आप को दुकान चाहिये। भाड़ा दिये बिना दुकान मिलती नहीं है और दुकान बिना आमदनी नहीं होती। इस दशा में आप यही करेंगे कि दुकान का कम से कम भाड़ा लगे। यानी आप कम से कम खर्च में दुकान करना चाहेंगे। इसी प्रकार गृहस्थ लोग भी अपने शरीर की रक्षा के लिये कम खर्च में होने वाली दुकान की तरह अनाज खा कर कम हिंसा में पेट भरते हैं और शरीर की रक्षा करते हैं। इससे कम हिंसा वाला कोई उपाय नहीं है। अर्थात् इससे कम पाप से शरीर की रक्षा होने का

कोई उपाय नहीं है। इसलिये अनाज खाना तो कम खर्च में काम चलाने के समान है और आप का बकरा खाना उड़ाऊपन के समान है एक ओर लाचारी है और दूसरी ओर महाहिंसा के कारण घोर पाप है।

अगर यह कहा जाय कि बकरा खाना भी लाचारी है, तो यह बात गलत है। क्योंकि तुम अनाज भी खाते हो और बकरा भी खाते हो। क्या तुम केवल बकरा खाकर ही रह सकते हो? केवल अनाज खाकर तो करोड़ों आदमी जीते हैं, लेकिन केवल बकरा खाकर कितने आदमी जी सकते हैं? और कितने आदमी पानी के बदले बकरे के रक्त पर जीवित रह सकते हैं?

इसके अतिरिक्त मनुष्य के लिये अनाज खाना स्वाभाविक है। मांस खाना अस्वाभाविक है। मनुष्य शरीर में मांस को पचाने के योग्य आँते ही नहीं हैं। मांसाहारी और शाकाहारी प्राणी की शक्ल में भी अन्तर पाया जाता है। बन्दर को मांस दिया जाय तो वह नहीं खाएगा, ऐसी हालत में उसी की शक्ल का मनुष्य कैसे मांस खा सकता है? तीसरे मांसहारी जीव जीभ से पानी पीते हैं और शाकाहारी जीव होठों से पानी पीते हैं। चौथे, मांसाहारी जीव के दांत कील की तरह नुकीले होते हैं और शाकाहारी के दांत चपटे होते हैं। इसी प्रकार मांसाहारी के नाखून भी तीखे होते हैं और शाकाहारी के तीखे नहीं होते। अब ईसाई या दूसरे मांसाहारी लोग अपने लिए विचार करें कि वे किस

शक्ल के हैं ? उनकी शक्ल मांसाहारियों जैसी है या शाकाहारियों जैसी है ? जब आप में मांस खाने-पचाने के योग्य दांत-आंत वगैरह कुछ नहीं है तो फिर आप मांस कैसे खाते हैं ? आप तो खाते हैं सो खाते हैं, पर न खाने वालों को दोष देते हैं, यह कितनी भारी भूल है ?

कुछ लोग मांस को अभक्ष्य और दोषपूर्ण समझते हुए भी अण्डे को भक्ष्य और निर्दोष मानते हैं। वे समझते हैं—अण्डा एकेन्द्रिय है और एकेन्द्रिय अनाज के समान ही है। इस लिये अण्डा खाने में कोई विशेष दोष नहीं है। मगर यह खयाल गलत है कि अण्डा और अनाज एक सरीखा है। अनाज को बोने से अनाज ही होगा मगर अण्डे से पंचेन्द्रिय पक्षी होगा। ऐसी दशा में अनाज और अण्डा एक सरीखा कैसे रहा ? यों तो मनुष्य गर्भ को अगर वह थोड़े ही दिनों का हो, निकाल कर देखने से पानी ही दिखाई देगा, लेकिन उसमें से मनुष्य निकलता है। इसी तरह अण्डे में से वैसा ही पक्षी निकलेगा, जैसे पक्षी का वह अण्डा होगा। फिर भी उसे अनाज के समान या एकेन्द्रिय मानना भूल है।

जब गाँधीजी विलायत जाने लगे तो उनकी माता ने जैन साधु के पास ले जाकर उन्हें मांस, मदिरा और परस्त्री का त्याग करवाया था। माता के इस त्याग करवाने के कारण ही गाँधीजी

विलायत में भ्रष्ट होने से बचे रहे। नहीं तो आज कौन कह सकता है कि गाँधीजी महात्मा गाँधी बन पाते ! विलायत में वह बीमार हो गये। डाक्टरों ने शराब पीने की सलाह दी। गाँधीजी ने कहा-चाहे मर जाऊँ मगर मदिरा न पीऊँगा। तब डाक्टरों ने मांस खाने का आग्रह किया। उन्होंने कहा-इस ठंडे प्रदेश में मांस खाये बिना जीवन नहीं रह सकता। गाँधीजी ने कहा-मैं मांस भी नहीं खा सकता। डाक्टरों ने कहा-अच्छा, मांस नहीं खाते तो अण्डे ही खाओ। अण्डे तो मांस में नहीं हैं !

गांधीजी लिखते हैं—अंडा, मांस में नहीं है, यह साबित करने के लिये डाक्टरों ने बहुत बहस की। मैंने सोचा-मैं बीमार हूँ, इसलिये डाक्टरों की बहस का जवाब तो मैं नहीं दे सकता। तब मैं ने उनसे कहा-आपकी समझ से या आपकी बहस से अण्डे चाहे मांस में न शामिल हों पर मेरी माता ने मुझे मांस न खाने की शपथ कराई है और वह अण्डे को मांस में ही मानती हैं। इस हालत में मुझे आप की बात माननी चाहिये या माता की बात माननी चाहिये ? मैं आपके विश्वास पर काम करूं या माता के विश्वास पर चलूं ? इस प्रकार गाँधीजी बहस में न पड़कर अपने पूर्वजों की यानी माता की बात पर स्थिर रहे। उन्हें वहाँ कष्ट भी उठाने पड़े, लेकिन धर्म के पालन में कष्ट तो उठाने ही पड़ते हैं।

बहुत-से लोग बहस में पड़कर धर्म को भूल जाते हैं और यह नहीं देखते कि हमारे पूर्वज क्या करते थे ? आजकल के पढ़े लिखे लोग प्रायः तर्क-वितर्क से प्रभावित हो जाते हैं मगर गाँधीजी अपनी माता की समझ के आगे किसी की बहस से प्रभावित नहीं हुए। वे उसी बात पर दृढ़ रहे जो उनकी माता ने कही थी। इसी कारण वे अपने धर्म पर और अपनी प्रतिज्ञा पर अटल बने रह सके।

जैसे अण्डे के विषय में यह कहा जाता है कि वह मांस में नहीं गिना जा सकता, इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि जब साधु हो गये तो किसी तरह की पूछताछ की क्या आवश्यकता है ? लेकिन पूछताछ न करने का अर्थ अज्ञान में रहना है। जो साधु हुआ है उसे तो ज्यादा ज्ञानी होना चाहिये। अतएव उसके लिये यह पूछना आवश्यक हो जाता है कि यह आहार किसके लिये बना है और इसके बनाने में हमारे लिये तो किसी जीव की हिंसा नहीं हुई है ? ऐसा पूछने पर कदाचित् भूखा रहना पड़े तो भी कोई हर्ज नहीं है। धर्म की साधना के लिये कष्टों से घबराना उचित नहीं है। ऐसा समझ कर साधु उचित पूछताछ करे और प्रासुक एवं एषणीए आहार आदि प्राप्त हो तो उसे ग्रहण करे।

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया था, उसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया था कि प्रासुक और एषणीय आहार करने

वाला साधु कर्मों को शिथिल करके अन्त में मुक्ति प्राप्त करता है। भगवान् के इस उत्तर को सुनकर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—प्रभो ! आपने जो फर्माया, वह सत्य तथा तथ्य है। लेकिन मैं पूछना चाहता हूँ कि प्रासुक और एषणीय आहार आदि भोगने वाला जो कर्म नाश करता है या मोक्ष जाता है, सो किस कारण से ? इस प्रासुक और एषणीय भोगने वाले में ऐसा कौन-सा गुण है कि वह संसार को पार कर जाता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है ?

यहाँ एकही गुण का वर्णन हो रहा है। यहाँ यह बतलाया गया है कि प्रासुक और एषणीय आहार करने वाला मोक्ष पाता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मोक्ष का दूसरा कोई कारण ही नहीं है और अकेले इसी कारण से मुक्ति प्राप्त हो जाती हैं। मोक्ष के इस कारण के साथ अन्य कारण भी समझ लेने चाहिये।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—हे गौतम ! प्रासुक और एषणीय भोगने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अपने सूत्रधर्म और चारित्रधर्म का उलंघन नहीं करता है, वरन् उन का पूरी तरह पालन करता है। इसी कारण वह मोक्ष पाता है अथवा गाढ़ी बँधी हुई प्रकृतियों को करता है। प्रासुक और एषणीय आहार आदि भोगने का प्रयोजन यह है कि किसी भी

प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचे। जो जीव आँखों से दीखते हैं उन्हें भी कष्ट न हो और जो आँखों से न दीखते हों उन्हें भी कष्ट न हो। इसी प्रयोजन से उन्होंने साधुपन ग्रहण किया है और इसी प्रयोजन से वह प्रासुक एवं एषणीय आहार आदि भोगते हैं। उसकी अहिंसा में सूत्रधर्म और चारित्रधर्म समा जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि उसने चारित्रधर्म तो स्वीकार किया है, लेकिन पूरी तरह सूत्रधर्म कहाँ पालता है? इसके उत्तर में टीकाकार कहते हैं—उसमें किसी की जरा भी हिंसा न हो, इस बात को स्वीकार किया है और वह इसका पालन भी करता है, इसलिये वह समस्त सूत्रधर्म को पालने और स्वीकार करने वाला है, क्योंकि किसी जीव को कष्ट न पहुँचाना ही सूत्रधर्म का सार है। सार को प्राप्त कर लेने पर समग्र की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञान का सार मोक्ष प्राप्त कर लेता है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इसलिये सारा ही ज्ञान प्राप्त कर लेता है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये उसने सूत्रधर्म के सार-रूप भूतदया को स्वीकार किया, इसलिये यही कहा जायगा कि उसने सारा ही सूत्रधर्म स्वीकार किया है।

सार ग्रहण कर लेने पर भी वह वस्तु, जिसका सार ग्रहण किया है, ग्रहण करनी पड़ती है। सूत्रधर्म का सार—किसी प्राणी

को कष्ट न पहुँचाना–ग्रहण किया, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अब ज्ञान की आवश्यकता नहीं रही। मक्खन ग्रहण कर लेने पर भी दही या छाछ की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार सार ग्रहण करने पर भी सूत्रधर्म की आवश्यकता है। प्रासुक और एषणीय भोगने वाला मुनि सूत्रधर्म का सार ग्रहण कर लेने पर भी सूत्र-चारित्रधर्म को त्यागता, किन्तु उसके अनुसार ही आत्मा को रखता है।

कोई साधु सब जीवों की दया के लिये साधु हुआ था, लेकिन उसे तरह तरह के भोजन की इच्छा हुई। इस कारण वह छः काय के जीवों की विराधना करके आहर करने लगा। इस तरह जिस प्रयोजन के लिये वह उठा था, उस प्रयोजन को उसने सिद्ध नहीं किया। बल्कि उसने विपरीत काम किया। लेकिन जो ऐसा नहीं करता और पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय के जीवों का जीवन वांछता है, वह जो आहार करता है, वह आहार जिन जीवों के शरीर का बना हुआ है, उन जीवों की भी दया की वांछा करता है।

प्रश्न होता है–जिन जीवों के शरीर से बना हुआ आहार साधु करता है, उन जीवों की दया का वांछक वह कैसे हो सकता है? चाहे वह आहार साधु के लिए न बना हो, किन्तु गृहस्थ ने अपने ही लिये बनाया हो, तब भी आहार बना है जीवों के शरीर से ही। और साधु जब उन जीवों के शरीर से

बना हुआ आहार खाता है तो वह उन जीवों की दया किस प्रकार वांछता है ?

शास्त्र में साधु को भ्रमर की उपमा दी है। भ्रमर फूल पर जाता है. उन का रस-पान करता है, लेकिन फूल को कष्ट नहीं होने देता। वह फूल को कष्ट नहीं पहुँचने देता, इसी कारण उसकी फूल के साथ प्रीति कही जाती है और भ्रमर को लोभी नहीं कहा जाता। यदि भ्रमर लोभी होता तो फूल को कष्ट भी पहुँचाता, उसे तोड़ मरोड़ डालता। लेकिन वह लोभी नहीं है। इसी कारण फूल का रस ले लेता है और फूल को कष्ट नहीं पहुँचने देता। भ्रमर की फूल के साथ कैसी प्रीति है। यह बात एक कल्पना से समझिए।

नहीं बाड़ी नहीं केतकी, नहीं फूलन का ढंग।
कूथ ने पुछूं हे सखि! भमरो भशमी लगावत अंग ॥१॥

कुछ सखियाँ पानी भरने के लिये जा रही थीं। उनमें से एक चतुर सखी ने अपनी दूसरी सखियों से कहा-मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि यहां न तो बाग है, न फूल न केतकी है। फिर यह भ्रमर यहां राख में क्यों लोट रहा है ? क्या यह भूल गया है ?

पहले थी यहां केतकी, जल गई दव के संग।
प्रीत निभावणा है सखि! भमरो भशमी लगावत अंग ॥२॥

तब दूसरी सखी ने कहा—सखि, यह भ्रमर भूला नहीं है। यह अपनी प्रीति का परिचय दे रहा है। इस राख की जगह पहले केतकी थी, जो अब जल गई है। इस भ्रमर ने कई बार उसकी सुगंध ली थी। इसी कारण यह भ्रमर उस केतकी की राख में लोटकर उसके प्रति अपनी प्रीति प्रकट कर रहा है।

ऐसा था तो क्यों रहा जलता न उनके संग।

शीतल जावण है सखि ! भमरो भशमी लगावत अंग ॥३॥

पहली सखी ने उत्तर दिया—यह बात मिथ्या है! जब केतकी जल रही थी, तब यह उससे दूर रहा और अब उसकी राख में लौटता है। यह भी कोई प्रीति है अगर इसे केतकी के प्रति सच्ची प्रीति थी तो इसको केतकी के साथ उसी प्रकार जल जाना चाहिए था जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रियां, पतिप्रेम में विह्वल होकर पति के साथ जल मरती हैं। यह भ्रमर केतकी के साथ तो जला नहीं और अब उसकी राख में लौट रहा है। यह प्रीति का परिचय देना नहीं, प्रीति को लजाना है।

पहिले वह यहां था नहीं, जलता उसके संग।

प्रीत निभावणा है सखि ! भमरो भशमी बुहावत गंग ॥४॥

तब दूसरी सखी ने कहा—सखी, तुम इसकी प्रीति को नहीं जानतीं। इसी से ऐसा कह रही हो। जिस समय केतकी जली, उस समय यह केतकी के पास होता तो उसके साथ ही जल

सरता। लेकिन उस समय यह पास नहीं था। उस समय न जाने यह कहां गया था और अब लौटकर आया है। इसी कारण जिस केतकी की सुगंध इसने ली थी, उसका स्मरण करके उसकी राख में लौट रहा है। मानों उसकी राख अपने पंखों में भर कर गंगा में बहाने ले जाता है जिस प्रकार अपने आत्मीय जनों की क्रिया की जाती है उसी तरह केतकी की क्रिया करके अपनी प्रीति का परिचय दे रहा है।

भ्रमर की फूल के साथ जो प्रीति होती है, उसके लिये यहाँ तक कल्पना की गई है। मतलब यह है कि भ्रमर की फूल के साथ प्रीति होती है, इसी कारण वह फूलों का रस लेता हुआ भी उन्हें पीड़ा नहीं पहूँचाता।

साधु को भी भ्रमर की उपमा दी गई है। जैसे भ्रमर के लिये केतकी है, उसी प्रकार साधुओं के लिए षट्काय के सभी जीव हैं। षट्काय के जीवों की रक्षा के लिये ही वे साधु होते हैं और देश देशान्तर में भ्रमण करके जीव रक्षा का ही उपदेश देते हैं।

कहा जा सकता है कि यदि ऐसा है तो फिर साधु लोग संथारा ही क्यों नहीं कर लेते ? वे संथारा करके मर जावें और छहकाय के जीवों के शरीर से बना हुआ आहार न खावें तो हम समझें कि दर असल साधुओं को छहकाय के जीवों से

प्रीति है। मरते तो हैं नहीं और जीवों के शरीर से बना हुआ आहार-पानी भी भोगते हैं—जिस प्रकार गृहस्थ हट्टे कट्टे हैं, उसी प्रकार साधु भी हट्टे कट्टे दिखाई देते हैं—फिर यह कैसे माना जाय कि साधु उन जीवों की दया चाहते हैं। और उनकी उन जीवों के साथ प्रीति है ?

इसके उत्तर में भव्य जन कहते हैं—साधु जीवित क्यों रहते हैं, यह जान लेना चाहिये अगर साधु जीवित न रहते तो जीवों की पहचान कौन कराता ? जीव दया का उपदेश कौन देता ? साधु जीव-दया के लिये जीवित रहते हैं और इस कारण वे उन जीवों के शरीर से बना हुआ आहार लेते हुए भी यह नहीं कहते कि हमें और दो। उलटा यहीं कहते हैं कि थोड़ा दो। देने वाला दो रोटियां देगा तो साधु उससे एक रोटी ही लेना चाहेगा। इस प्रकार साधु उन जीवों की दया रखते हैं कि कहीं हमारे लिए आहार न बने और हमारे लिए जीवों को कष्ट न हो।

गौतम स्वामी से भगवान कहते हैं—हे गौतम ! साधु सब जीवों का जीवन वांछता है, सब जीवों पर दया करता है, इसलिए प्रासुक एषणीय आहार आदि भोगने वाला मोक्ष जाता है या गाढ़ी बंधी हुई कर्मप्रकृतियों को ढीली कर डालता है।

तेरापंथी लोग कहते हैं कि जीवों का जीना-मरना वांछना धर्म नहीं है, सिर्फ तरना वांछने में धर्म है। लेकिन शास्त्र में कहा

है कि आधाकर्मी आहार आदि न भोगने वाला और प्रासुक-एषणीय भोगने वाला पृथ्वीकाय से त्रसकाय तक के, सब जीवों का जीना वांछता है। पृथ्वीकाय आदि के सभी जीव साधु नहीं है, फिर भी उनकी दया वांछता है और उनकी दया के लिए ही साधु यह पूछता है कि यह आहार हमारे लिए तो नहीं बनाया है ? तेरहपंथी कहते हैं—तुम जीवों का जीना वांछते हो और जीव असंयत हैं, इसलिए वे जीवित रहकर जो आरम्भ-समारम्भ आदि पाप करेंगे, उस सब का पाप तुम्हें अर्थात् बचाने वाले को लगेगा। उदाहरणार्थ—तुम अपने लड़के का जीना वांछते हो तो उसे नहलाना-धुलाना भी पड़ता है। अगर इसी को दया कहा जाय तो ऐसी दया गृहस्थ रोज ही करता है, इसके लिए साधु होने की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर यह है कि मोह से दूसरे जीवों की हिंसा करना मोह और हिंसा ही है, मगर दया से करने वाले को दया का भी लाभ होता है। गृहस्थ की दया एकांगि होती है। उसमें पूर्णता लाने के लिए ही साधुता स्वीकार की जाती है। मान लीजिए, किसी पिता के छह पुत्र हैं। वह अपने एक लड़के को पोसता है और पांच लड़कों को थप्पड़ लगाता है तो उसकी दया लँगड़ी है। एक लड़के पर की जाने वाली दया है तो दया ही, मगर वह एकांगी है। वह सब पर बराबर दया नहीं है। यही बात साधु

के लिए भी है। अर्थात् गृहस्थावस्था में मनुष्य सब जीवों पर समान रूप से दया नहीं करता, इसीलिए उसने साधुपन लिया है कि जिससे समस्त प्राणियों पर समान भाव से दया की जा सके।

कोई कहता है—अगर साधु सब जीवों का जीवन वांछते हैं तो वे किसी जीव को अपने पास का आहार-पानी क्यों नहीं देते? इसका उत्तर यह है कि साधु जो आहार-पानी लाया है वह सब जीवों की दया के लिए ही है और देने वाले ने भी इसी लिए दिया है कि यह आहार-पानी खा-पीकर साधु सब जीवों की दया करेंगे। इस प्रकार साधु अपने ही लिए आहार-पानी लाये हैं, किसी दूसरे के लिए नहीं। अगर वह दूसरे को दे देते हैं तो देने वाले के प्रति विश्वासघात होता है। इस कारण साधु दूसरे को आहार-पानी नहीं देते।

साधु अपने आहार के लिए किसी जीव को कष्ट नहीं देते, यह बात तो हुई। लेकिन गृहस्थ भी, जो अपने लिए कम से कम हिंसा होने देता है, धर्मात्मा कहलाता है।

गृहस्थ और साधु का धर्म अलग-अलग है और वृत्ति भी अलग-अलग है वृत्ति और धर्म में भी अन्तर है। जीवन-निर्वाह के उपाय को वृत्ति कहते हैं और मर्यादा का पालन करना धर्म है वृति तो पशुओं में भी पाई जाती है। सच्चा मनुष्य वही है

जो मर्यादा का पालन करता है मर्यादा पालन करते समय गृहस्थ होने का बहाना बनाकर छुटकारा पाना उचित नहीं है । बहाना बनाने वालों से रघुनाथजी महाराज कहा करते थे–गृहस्थ तो कुत्ता भी है । अगर धर्म न पाला तो तुममें और कुत्ते में क्या अन्तर रहा ? अपने आपको 'गृहस्थ हूँ' कहकर मर्यादा का लोप करना बुरा है । यह तो गृहस्थपन को और लजाना है । मनुष्यता को न समझना है । इसलिए प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने धर्म नियमों का पालन करना चाहिए । यह ठीक है कि आप गृहस्थी में रहते हुए साधुओं के नियमों का पालन नहीं कर सकते, मगर गृहस्थ का धर्म भी तो बतलाया है । पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह-व्रत गृहस्थाश्रम का धर्म है । इस गृहस्थ धर्म का पालन करने पर मनुष्य और पशु में क्या अन्तर रहा ?

आज ब्राह्मणों ने ब्राह्मणवृत्ति, क्षत्रियों ने क्षत्रियवृत्ति, वैश्यों ने वैश्यवृत्ति और क्षुद्रों ने क्षुद्रवृत्ति तो मानली है, मगर इन चारों वर्णों के साथ जो सामान्य धर्म बतलाया गया था, उसे लोग भूल गये हैं । सिर्फ वृत्ति को पकड़ बैठे हैं । परन्तु वृत्ति तो पशुओं में भी पाई जाती है । पशु भी भूख लगने पर भोजन करता है और नींद आने पर सो जाता है । अगर सिर्फ यही वृत्तियां मनुष्यों में भी रहीं तो मनुष्य में पशुओं की अपेक्षा विशेषता क्या रही ?

जब साधु इन वृत्तियों के फेर में पड़जाता है तो उसका पतन आरंभ होता है। और वह आधा कर्मी आहार आदि का सेवन करने लगता है। आधाकर्मी आहार करने से साधु को संसार भ्रमण करना पड़ता है। इसके विरुद्ध जो अपने धर्म का अतिक्रमण नहीं करता वह संसार का छेदन करता है। जो पुरुष स्थिर होता है वह धर्म से नहीं गिरता और अस्थिर पुरुष धर्म से गिर जाता है। धर्म से गिरना और नहीं गिरना अस्थिरता और स्थिरता पर आश्रित है। प्रस्तुत सूत्रों में अस्थिरता और स्थिरता का ही वर्णन किया गया है। अतएव आगे गौतम स्वामी स्थिरता और अस्थिरता के विषय में प्रश्न करते हैं।

स्थिर-अस्थिर व्याख्या

मूलपाठ—

प्रश्न—से णूणं भंते ! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ? सासए बालए, बालियत्तं असासयं, सासए पंडिए, पंडियत्तं असासयं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ, जाव-पंडियत्तं असासयं। सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति जाव-विहरइ।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! अस्थिरः प्रकोटति, नो स्थिरः प्रलोटति, अस्थिरो भज्यते, नो स्थिरो भज्यते ? शाश्वतः बालकः, बालिकत्वं (बालत्वं) अशाश्वतम्, शाश्वतः पण्डितः, पण्डितत्वम् अशाश्वतम् ?

उत्तर—गौतम ! अस्थिरः प्रलोटति, यावत्-पण्डितत्त्वम् अशाश्वतम् तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! यावत्-विहरति ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! अस्थिर पदार्थ बदलता है और स्थिर पदार्थ नहीं बदलता ? अस्थिर पदार्थ भंग होता है और स्थिर पदार्थ भंग नही होता ? बालक शाश्वत है ? बालकपन अशाश्वत है ? पंडित शाश्वत है ? पंडितपन अशाश्वत है ?

उत्तर—गौतम ! अस्थिर पदार्थ बदलता है और यावत्-पंडितपन अशाश्वत है ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! हे भगवन् यह इसी प्रकार है । ऐसा कह कर यावत् विचरते हैं ।

व्याख्यान-

'हे भगवन् ! क्या अस्थिर पदार्थ पलटता है ?' यह प्रश्न करके गौतम स्वामी हम बाल जीवों के वकील बने हैं । वे भगवान् महावीर के सामने हम लोगों की वकालत कर रहे हैं । कोई न समझने वाला आदमी अदालत में अपनी तरफ से वकील कर लेता है और वह वकील अपने मवक्किल की दलीलें हाकिम को समझाता है । वह दलीलें यद्यपि मवक्किल की हैं, मगर मवक्किल हाकिम को समझा नहीं सकता, इस कारण वकील समझाता है ।

गौतम स्वामी स्वयं ज्ञानी थे। केवली नहीं थे, फिर भी केवली के समान थे। उनके मनमें किसी तरह की शंका नहीं थी। उन्हें अपने लिये कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन उन्होंने बाल जीवों की दया के लिये भगवान् से प्रश्न किये हैं। हम लोग न तो इस प्रकार भगवान् से प्रश्न ही कर सकते थे और न आज भगवान् हैं ही कि उनसे प्रश्न करने का सुयोग मिले। गौतम स्वामी ने हमारे ऊपर असीम दया करके यह प्रश्न किये, और आज भी हम उनसे लाभ उठा सकते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! क्या निश्चय से अस्थिर पलटता है और स्थिर नहीं पलटता? यह प्रश्न यों तो सरल-सा मालूम होता है। सब लोग कह सकते हैं कि अस्थिर पलटता है और स्थिर नहीं पलटता। जो पलटे वह अस्थिर और जो न पलटे वह स्थिर कहलाता है। फिर गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न क्यों किया? मगर क्यों यह प्रश्न किया गया है और इसका तात्त्विक अभिप्राय क्या है, यह बात टीकाकार ने स्पष्ट करदी है।

गौतम स्वामी द्वारा किये हुए 'अथिरे पलोट्टइ' इस प्रश्न के दो अर्थ होते हैं—व्यावहारिक और पारमार्थिक (आध्यात्मिक)। व्यवहार में भी पलट जाने वाला अस्थिर कहलाता है और जो नहीं पलटता है वह स्थिर कहलाता है। अस्थिर गोल मटोल पाषाण के समान होता है, जिसे जिस ओर धक्का लगा उसी

ओर लुढ़क गया। लोक में उसे बिना पेंदे का लोटा कहते हैं। ज़रा-सा टल्ला लगने की जरूरत है कि उसे लुढ़कते देरी नहीं लगती। वह टल्ला लगने से लुढ़कता है, फिर गोल होने के कारण स्वयं ही गति करता जाता है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से अस्थिर पलटता है।

दूसरा अर्थ आत्मा के विषय में है। गौतम स्वामी का यह प्रश्न व्यावहारिक उदाहरण लेकर आध्यात्मिक विषय में घटित होता है। यहां प्रश्न का आशय यह है कि आध्यात्मिक चिन्ता में कर्म प्रति समय चलायमान है ? अर्थात् कर्म अस्थिर हैं और वे पलटते रहते हैं ?

बहुत-से लोग यह समझते हैं कि किये हुए कर्म भोगने पर ही छूटते हैं। बहुत-से लोग कष्ट के समय यह कहते सुने जाते हैं कि किये कर्म भोग रहे हैं। किसी अंस में तो यह कथन ठीक भी है, लेकिन सर्वांस में सत्य नहीं है। अगर बिना भोगे कर्म छूटते ही न हों तो कोई जीव मोक्ष ही नहीं पा सकता। क्यों कि जो कर्म बाँधे हैं उन्हें भोगना ही पड़ेगा और उन्हें भोगने में नये कर्मों का बंध होगा। ऐसी दशा में मोक्ष कैसे हो सकेगा ? फिर संयम लेना, दान, मान आदि करना सब व्यर्थ ठहरेगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कर्म दो प्रकार से भोगे जाते हैं---विपाक से और प्रदेश से। जो कर्म प्रदेश में तो

आ चुके हैं और विपाक में आने वाले हैं उन्हें तपस्या आदि के द्वारा प्रदेश में ही भस्म किया जा सकता है। इससे बहुत काल में भोगे जाने वाले कर्म थोड़े ही काल में भोगे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ–किसी आदमी ने घास का ढेर लगाया। अगर वह ढेर यों ही रहे तो बहुत समय तक रहेगा और बहुत दिनों बाद नष्ट होगा। लेकिन उसमें अगर आग की एक चिनगारी रख दी जाय तो बहुत काल में नष्ट होने वाला वह घास थोड़ी ही देर में भस्म हो जायगा। नष्ट तो वह होता ही, मगर आग न लगाने से बहुत काल में नष्ट होता और आग लगाने पर जल्दी नष्ट हो गया। यही बात कर्म के विषय में समझना चाहिये। भक्तों ने कहा है—

पाप-पराल को पुंज बन्यो अति मानहु मेरु आकारो।
ते तुम नाम-हुतासन सेती सहजहिं प्रज्वलित सारो ।।पदम.।।

पाप का पुंज चाहे मेरू के समान ही क्यों न हो उसमें तप, दान आदि की जरा-सी चिनगारी पड़ जाय तो वह पाप-पुंज घास के ढेर के समान थोड़ी ही देर में जल जाता है। इस लिये ज्ञानी जन कहते हैं कि–हे आत्मा! तू तप, नियम आदि की छोटी-सी चिनगारी छोड़ दे तो कर्म भस्म हो जाएँगे। अर्थात् प्रदेश में उदय आये हुए कर्म प्रदेश में ही भस्म हो जाएँगे। विपाक में उनका अनुभव नहीं करना पड़ेगा।

यहां गौतम स्वामी के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि कर्म अस्थिर हैं, इस लिये वे चलायमान हैं ? जैसे घास का नाश तो यों भी होता है मगर बहुत दिनों में होता है, तथापि नष्ट होने के कारण अस्थिर तो है न ? और जो अस्थिर है वह चलायमान है। कर्म अस्थिर हैं, इस लिये चलायमान हैं, पलटते भी हैं। यह आत्मा अनन्त वार सातवें नरक में गया होगा, मगर अब भी जैसा का तैसा है और वह कर्म नष्ट हो गये । कर्म अस्थिर थे, इस लिये पलट गये हैं। इसी लिये भगवान कहते हैं-कर्म हैं, यह घबराहट का कोई कारण नहीं है । वह अस्थिर हैं-नष्ट किये जा सकते हैं। प्रतिक्षण कर्म नष्ट हो रहे हैं-उनकी निर्जरा होती रहती है। इस लिये कर्म बांधने के समय घबराओ मगर जो बँध चुके हैं उनके लिए घबराने की आवश्यकता नहीं है। उनसे घबराना नहीं चाहिए, उन्हें नष्ट करने का उपाय करना चाहिए। मन में दृढ़ता रखकर यह विचारना चाहिए कि यह कर्म मेरे बांधे हुए हैं । मैं इन्हें नष्ट भी कर सकता हूँ, क्योंकि यह अस्थिर हैं । ऐसी दृढ़ता रखने पर कर्म नष्ट होंगे और यदि घबरा कर रोने लगोगे तो अपने ही भ्रम के कारण दुःख उठाओगे।

एक लड़की विवाह के बाद अपने ससुराल गई । ससुराल वालों को न जाने क्यों यह वहम हो गया कि इसके शरीर में कोई भूत, प्रेत या डाकिन है। उन्होंने उस लड़की को अपने बाप

के यहां भेज दिया। उन लोगों ने भूत निकालने का उपाय किया और एक भोपे को बुलवाया। भोपे ने आकर कहा—यह लड़की इलाज के लिये मुझे सौंप दो तो म डाकिन निकाल दूँ। गरज के मारे उन्होंने उसके सिपुर्द कर दी। निर्दयी भोपे ने लड़की को पीटना शुरू किया। लड़की चिल्लाने लगी:—'मैं डाकिन नहीं हूँ। मुझे छोड़ो! बचाओ!'

लड़की की करुणा चिल्लाहट से घर वालों ने भी छोड़ देने का आग्रह किया। मगर भोपा कहने लगा—'बोलो मत। डाकिन ही यह हाय—तोबा कर रही है।' और उसने लड़की को इतना मारा कि उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

यह एक समाचार पत्र में पढ़ी हुई घटना है और बहम से होने वाले अनर्थ का शाक्षात् प्रमाण है। परमात्मा पर विश्वास न होने के कारण ऐसे बहम उत्पन्न होते हैं। परमात्मा के प्रति जिसकी श्रद्धा गाढ़ी है, उसे ऐसे बहम का सामना नहीं करना पड़ता। लोग वृथा ही बहम के शिकार होते हैं और भोपे आदि का शरण लेते हैं। कर्मों के विषय में भी बहुतों को यह बहम रहता है कि वे बिना भोगे नहीं छूट सकते। किन्तु भगवान् कहते हैं—कर्म से भय मत करो। कर्म अस्थिर है, इस कारण उसे नष्ट किया जा सकता है। कर्म, करने से ही लगे हैं। वे अस्थिर हैं—नाशवान हैं। अविनाशी को नाशवान से क्या भय है? भय या बहम करना कर्मों को सुदृढ़ करना है।

धैर्य रखने और कर्मों का वहम न रखने से कर्मों का नाश होता है। मगर आप को इस सत्य का भरोसा नहीं है। आप व्यर्थ अपनी शक्ति का क्षय कर रहे हैं और न जाने कैसे कैसे देवों को मान रहे हैं।

जिनकी श्रद्धा पक्की है वे नहीं पलटते। अस्थिर श्रद्धा वाले ही पलटते हैं। स्थिरता होने पर सभी काम सहज हो जाते हैं। स्थिरता के बिना कुछ नहीं होता। यदि आपमें धर्म पक्का होगा तो आप यही कहेंगे कि मेरा धर्म स्थिर है और पाप अस्थिर है। फिर पाप से अभिभूत होने की क्या बात है! आप का घर पक्का हो और कोई आग ले कर आवे और कहे कि मैं तुम्हारा घर जलाता हूं तो क्या आप को भय होगा? भय की बात तब होगी जब आप का मकान कच्चा झोपड़ा हो। इसी प्रकार आप का धर्म पक्का होगा तो आप किसी से भी भय नहीं करेंगे।

ज्ञानावरणीय आदि के भेद से कर्म आठ प्रकार के हैं। यों तो कर्म स्थूल हैं फिर भी आंखों से दिखाई नहीं देते। अगर आंखों से दिखाई न देने पर भी उनके विषय में किसी तरह के संदेह करने का कोई कारण नहीं है। किसी बीज को कितना ही नजर गड़ा कर देखो, उसमें वृक्ष दिखाई नहीं देगा। फिर भी यह मानना पड़ता है बीज में वृक्ष (शक्तिरूप में) विद्यमान है। यही मान कर गेहूँ निपजाने के लिये गेहूँ बोये जाते हैं और

उनमें से पौधे निकल कर गेहूँ भी हो जाते हैं । इसी प्रकार कर्म के बीज से संसार होता है । इस लिए कर्मों के अस्तित्व में शंका करने का कोई कारण नहीं है । कर्म के अंकुर से ही संसार है और कर्म खुद के किये हुए हैं । इस लिये यह समझो कि यह दृश्य मेरे ही द्वारा की गई रचना है । संसार मेरे ही कर्म से उत्पन्न है और मैं स्वयं ही इसमें फँस रहा हूँ, जैसे मकड़ी अपने जाल में आप ही फँस जाती है । ऐसा समझ कर भगवान की भक्ति में रम जाय और उस ज्योतिस्वरूप अदृश्य शक्ति को पहचान ले तो यह स्थूल संसार—यह दृश्य बंधनकारक नहीं होगा । आठ गुणों से सुशोभित भगवान इस संसार के मोह पीछे ही हैं । संसार का मोह हटते ही उसका दर्शन होगा और दर्शन होने पर उस स्थान पर पहुँच जाओगे, जो ज्ञानियों ने बताया है । अतएव उस अदृश्य शक्ति को पहचानो ।

उस अदृश्य शक्ति को कैसे पहचाना जा सकता है यह बताने के लिये ही शास्त्र में स्थिर और अस्थिर का वर्णन किया गया है ।

बहुत-से लोग कहते हैं कि आत्मा के साथ कर्म अनादि से हैं और जो अनादि से है, वह आत्मा से अलग कैसे हो सकता है ? कर्मों के अलग हुए बिना आत्मा को मोक्ष भी कैसे हो सकता है ? ऐसा कहने वालों को यह उत्तर दिया जा सकता है

कि आत्मा के साथ कर्मों का संबंध अनादि होने पर भी कर्म अस्थिर हैं और प्रवाहरूप में ही अनादि हैं, इसलिए वह पलटते हैं। अगर ऐसा न होता तो कभी नष्ट ही नहीं हो सकते। किसी नदी के किनारे खड़े होने पर ऐसा मालूम होता है कि इस नदी में वह जल है जो कल देखा था, परन्तु वास्तव में जो पानी कल देखा था वह आज नहीं है। कल वाला तो कभी का बह गया। इस तरह नदी का जल अस्थिर है मगर प्रवाह रूप में ऐसा मालूम होता है कि यह वही जल है। कर्म भी इसी प्रकार अस्थिर हैं, लेकिन उनका प्रवाह जारी रहने के कारण वह अनादि कालीन कहलाते हैं। दरअसल तो कर्म सदैव पलटते रहते हैं। कर्म स्थिर नहीं हैं कि पलट न जावें। आत्मा पराक्रम और उद्योग करें तो कर्म टिक नहीं सकते। आत्मा ने ही उन्हें रख छोड़ा है।

आप कहेंगे हम पत्थर को लुढ़कते देखते हैं, लेकिन कर्म को पलटते हुए कैसे देखें और उनकी अस्थिरता पर कैसे विश्वास करें? इसके लिये टीकाकार कहते हैं—जैसे पत्थर लुढ़कता है, उसी प्रकार कर्म भी लुढ़कते रहते हैं। कर्म जब बँधते हैं तो बद्ध दशा में आते हैं। फिर वे उदय में आते हैं तो उदीर्ण कहलाते हैं। उसके बाद उनकी निर्जरा होती है, तब वे निर्जीर्ण कहलाने लगते हैं, उदीर्ण नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार कर्मों की दशाएँ पलटती रहती हैं।

इसे ठीक तरह समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। आप ने किसी को दवा दी। वह दवा अगर स्थिर हो रहे तो उससे कोई काम नहीं हो सकता। मगर वह पेट में जाकर परिणमत करती है, फिर रस देती है और फिर जोश देती है। थोड़ी देर बाद उसका जोश समाप्त हो जाता है। इस प्रकार दवा अस्थिर है, जैसे दवा अस्थिर है, उसी प्रकार कर्म भी अस्थिर हैं। कर्म स्थिर होते तो जीव की नाना अवस्थाएँ ही न होतीं। एक बार जो जीव जिस अवस्था में है वह अनन्त काल तक उसी अवस्था में रहता। मगर लोक में ऐसा कहीं नहीं देखा जाता। इससे सहज ही कर्मों की परिवर्त्तनशीलता का अनुमान किया जा सकता है। इसमें सन्देह को स्थान ही नहीं है।

स्थिर वह है जो कभी नहीं पलटता। मान लीजिए, एक शिला है। वह जमीन में गड़ी हुई है और कुछ-कुछ बाहर दिखाई देती है। इस कारण वह स्थिर है—पलटती नहीं है। शिलाकी यह स्थिरता भी व्यवहार दृष्टि से है। इस व्यवहारिक स्थिरता के उदाहरण से यह बतलाया जाता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से स्थिर क्या है? ऐसी स्थिरता जीव में पाई जाती है। जीव कभी पलटता नहीं है। कर्म बद्ध होते हैं, उदय में आते हैं और अन्त में निर्जीर्ण होकर आत्म-प्रदेशों से झड़ जाते हैं, क्योंकि वे अस्थिर हैं, लेकिन जीव द्रव्य सदा एक-सा रहता है, पलटता नहीं है। इसलिये जीव स्थिर है।

प्रश्न किया जा सकता है कि-जीव पलटता क्यों नहीं है? अगर जीव नहीं पलटता तो कर्म भी नहीं पलट सकते। जीव के साथ जब कर्मों का बँध होता है तब जीव के अध्यवसाय बन्धरूप होते हैं। कर्म जब उदय में आते हैं तो उदयरूप अध्यवसाय होते हैं। और जब कर्मों की निर्जरा होती है तब जीव के निर्जरा-रूप अध्यवसाय होते हैं। इसके सिवाय जीव कभी तिर्यञ्च होता है, कभी मनुष्य होता है, कभी देव और कभी नारकी होता है। इसलिये जीव भी कर्मों के समान पलटता रहता है। ऐसी दशा में उसे स्थिर या नहीं पलटने वाला कैसे कहा जा सकता है? अगर यह कहा जाय कि जीव द्रव्यरूप से स्थिर रहता है तो कर्म भी द्रव्यरूप से स्थिर रहते हैं। कर्म चाहे बन्ध दशा में हों, उदय दशा में हों या निर्जरा अवस्था में हों, रहते हैं वह पुद्गलरूप में ही। फिर कर्म अस्थिर क्यों है और जीव स्थिर क्यों है?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—जीव नियम से असंख्यप्रदेशी है और चेतना (ज्ञान) उसका लक्षण है। जड़ में यह दोनों बातें नहीं पाई जातीं। जीव अनादि काल से असंख्यातप्रदेशी है। इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी उसमें एक भी प्रदेश की न्यूनता नहीं आई। कुछ भी फेरफार नहीं हुआ। कर्म के संयोग से जीव की कितनी ही पर्यायें पलटें, मगर जीव तो ऐसा ही रहा है, है और ऐसा ही रहेगा।

सोना भी धातु है और लोहा भी धातु है। मगर दोनों में अन्तर है। सोना घिसकर चाहे मिट्टी में मिल जाए या पृथ्वी में चिरकाल तक गड़ा रहे, फिर भी वह अपने परमाणुओं को नहीं छोड़ता। उसे जब भी तपाओ वह सोना ही है। उसे जंग भी नहीं खाती। इस कारण कितने भी दिन जमीन में गड़ा रहने के बाद भी वह वैसा ही सोना है। उसे तोलो तो बराबर उतरेगा। अतएव वह लोहे की अपेक्षा अधिक स्थिर कहा जायगा। लोहे को जंग लगजाती है। वह तोल में भी कम हो जाता है। इस लिए वह सोने की अपेक्षा अस्थिर है। इसी प्रकार आत्मा का बदला त्रिकाल में भी नहीं होता। जैसे मिट्टी में मिल जाने पर भी सोना, सोना ही है, उसी तरह किसी भी पर्याय में जाने पर भी जीव, जीव ही है। जीव के जितने प्रदेश हैं, उनमें न कमी होती है, न वृद्धि होती है। लेकिन पुद्गल के प्रदेश कम भी हो जाते हैं और ज्यादा भी हो जाते हैं। एक पुद्गल के प्रदेश उससे अलग होकर दूसरे में मिल जाते हैं, लेकिन एक जीव के प्रदेश कभी अलग नहीं होते और न दूसरे में ही मिलते हैं। इस अपेक्षा से कर्म को अस्थिर और जीव को स्थिर कहा है।

इस के अतिरिक्त कर्म, पुद्गल द्रव्य नहीं, वरन् पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं और जीव स्वयं द्रव्य है। पर्याय अस्थिर और पलटने वाला होता है, जब कि द्रव्य स्थिर और नहीं पलटने

वाला होता है । इस दृष्टि से भी कर्म अस्थिर और जीव स्थिर है ।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—अस्थिर पलटता है और स्थिर नहीं पलटता । यह कथन सत्य है ।

जिस तरह घास आदि सांसारिक पदार्थ अस्थिर हैं उसी प्रकार अध्यात्मिक क्षेत्र में कर्म आदि सब पदार्थ अस्थिर हैं । जो अस्थिर हैं, वे परिणामी हैं । इस कथन के अनुसार पुण्य पाप आदि सारे ही पदार्थ परिणामी हैं । एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप में आने वाला परिणामी कहलाता है । जैसे दूध अपना वर्तमान रूप छोड़कर दही के रूप में आजाता है, इसी प्रकार पाप, पुण्य रूप में और पुण्य, पाप रूप में परिणत हो जाता है । यही पुण्य, पाप का पलटना है । आम का फल जब कच्चा होता है तब हरा खट्टा और कठिन होता है परन्तु जब पक जाता है तो मधुर, पीला और कोमल हो जाता है । पके आम-फल में जो मिठास आई वह कहीं बाहर से नहीं आई है । बल्कि कारण पाकर खट्टा रस ही मीठा बन जाता है । यही बात पुण्य-पाप के संबंध में है । भयंकर पाप भी उत्कट शुभ क्रिया से पुण्य में परिणत हो जाता है और घोर अशुभ कर्म करने से पुण्य भी पाप के रूप में पलट जाता है। यदि पाप बदलना न होता तो प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता ही न रहती । शास्त्र में प्रायश्चित्त की जो व्यवस्था दी गई है, वह व्यर्थ हो जाती । शास्त्र में दी हुई इस

व्यवस्था से भी यह सिद्ध है कि प्रायश्चित्त की विधि से किये गये कर्म द्वारा पाप अपना रूप छोड़कर पुण्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अतएव किसी पापी को हतोत्साह न होकर शुभ कर्म द्वारा पाप को पुण्य रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रायश्चित्त करने से पाप या तो नष्ट हो जाता है या पुण्य रूप में परिणत हो जाता है।

अलबत्ता, यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रायश्चित्त से पाप नष्ट हो जाता या पुण्य रूप में परिणत हो जाता है, इस विचार से पाप में प्रवृत्त होना अच्छा नहीं। ऐसा करने वाला आत्मवंचना करता है। उसका प्रायश्चित्त सच्चा प्रायश्चित्त नहीं होगा। इसके अतिरिक्त कीचड़ में पैर भिड़ाने के पश्चात् उसे धोने की अपेक्षा पैर में कीचड़ न लगने देने में ही बुद्धिमानी है।

शास्त्र में कुण्डलीक राजा का वृत्तान्त आया है। उसमें कहा गया है कि वह राजा जीवन भर तो पुण्यात्मा रहा, लेकिन केवल तीन दिन के पाप से वह नरक में गया। दूसरा दृष्टान्त राजा प्रदेशी का है। प्रदेशी राजा ने पहले तो बहुत पाप किये थे, लेकिन उसने अन्त में शुभ कर्मों द्वारा अपने पाप को पुण्य के रूप में परिणत कर लिया।

इस चरितानुवाद से भी पाप का पुण्य और पुण्य का पाप रूप में परिणत होना सिद्ध होता है। इस लिए पुण्य और पाप

दोनों ही अस्थिर और परिणामी हैं। हमें अस्थिर पर आसक्त न होकर स्थिरता स्वीकार कर आत्मा से प्रेम करना चाहिए। नीति में कहा है—

> यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
>
> ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि॥

अर्थात्—जो मनुष्य स्थिर को छोड़कर अस्थिर को लेने जाता है, उसका स्थिर पदार्थ नष्ट हो जाता है और अध्रुव तो नष्ट है ही वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है।

अतः आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों से प्रेम नहीं रखना चाहिए। दूसरे पदार्थों के लोभ में पड़ने पर अपने स्थिर आत्मा से वंचित रहना पड़ता है। इस विषय में कुत्ते का दृष्टान्त दिया जाता है:—

एक कुत्ता रोटी का टुकड़ा लेकर नदी के तट पर गया। नदी के जल में उसे अपनी परछाई दिखाई दी। वह अपनी परछाई को दूसरा कुत्ता जानकर उसके मुख की रोटी लेने के विचार से भौंकता हुआ झपटा। भौंकते समय मुँह खुलजाने से उसके मुँह की आधी रोटी, जो उसकी क्षुधा शांति के लिए सहारा होती, पानी में गिरगई। और वह परछाई वाली रोटी तो मिथ्या थी ही। उसमें कुत्ते की उपादेय बुद्धि तो अज्ञानवश हुई थी। यह दृष्टान्त है। इसे आत्मा के विषय में इस प्रकार

घटाया जा सकता है—आनन्दमूर्त्ति आत्मा अपने आप में स्थित है। बाहरी पदार्थों में जो सुख उसे दिखाई देता है, वह उसी की परछाई है। वह वास्तव में मिथ्या है, वास्तविक आनन्द नहीं है। आत्मा अज्ञान के अधीन होकर अन्य पदार्थों में जब आनंद लेने जाता है, तब वह अपना असली आनन्द भी गँवा बैठता है। विषयों में आनन्द है ही नहीं, तो उसे मिले कहां से ? आत्मा अनादि काल से विषय-सुख भोगता चला आता है, फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। वह जितना ही विषयसुख भोगता है, उतना ही विषयसुख को अपूर्ण मानता है। यह स्पष्ट है कि सच्चे आत्म-सुख का लाभ जबतक न हो, तबतक सुखी होना संभव नहीं।

यह आध्यात्मिक बात हुई। लौकिक विषय में इस प्रकार समझना चाहिए कि जो ध्रुव है, उसी को विद्वान लोग अपना समझते हैं। वे दूसरी चीज पर आसक्त नहीं होते। जो दूसरे की चीज लेने जाता है, उसकी खुद की चीज चली जाती है। रावण ने पराई स्त्री के लोभ में पड़कर ही अपनी स्त्री खोई, अपना पुत्र खोया, राज्य खोया और अपना सर्वस्व नष्ट करके आप भी नष्ट हुआ। रावण के पास रानियों की कमी नहीं थी, फिर भी उसने सीता का हरण किया। उसका यह कार्य ध्रुव को छोड़कर अध्रुव को लेना था। उसके इस कार्य का जो भीषण परिणाम हुआ, वह रामायण पढ़ने-सुनने वाले सभी जानते हैं।

विवेक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि अपने आत्मा को छोड़कर दूसरी सब चीज़ अध्रुव है। जिस स्त्री को आज आप अपनी समझते हैं, वह विवाह से पहले आपकी नहीं थी। उस समय वह भी अन्य स्त्रियों की भाँति पराई थी। जब विवाह हुआ तभी से आप उसे अपनी समझने लगे और मानने लगे कि वह आपकी है। लेकिन वास्तव में वह आपके लिए ध्रुव नहीं है। जो चीज किसी वक्त आपकी नहीं थी और कुछ समय के लिए आपकी कहलाती है, वह ध्रुव नहीं कही जा सकती। जो स्थिर है वह अस्थिर नहीं हो सकता और जो अस्थिर है वह स्थिर नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ की मूल प्रकृति का विपर्यय असंभव है। लोग भ्रमवश अस्थिर को स्थिर मानने लगते हैं, लेकिन किसी के मान लेने से वस्तु का स्वभाव बदला नहीं जा सकता। वस्तु अपने स्वभाव से जैसी है, उसे अन्यथा मान लेने के बाद भी वैसी ही रहती है। मानने वाले की चित्तवृत्ति पलटती है, वस्तु का स्वभाव नहीं पलटता। जिस स्त्री के साथ आप का विवाह जब तक नहीं हुआ था, तब तक आप उसके सुख-दुःख की ओर से उदासीन थे। जब आप ने उसे अपनी मान लिया तब से उसके सुख में सुखी और दुःख में दुखी होने लगे। यह ऐसा ही भ्रम है जैसे कोई आदमी रस्सी को साँप मान कर उससे भय खाता है और कभी हार मान कर प्रसन्न होता है। मगर उसे मान कुछ भी लिया जाय, वह है

तो रस्सी ही। आपके मानने से रस्सी का कुछ नहीं बदला रस्सी न वास्तव में हार बनी है, न साँप बनी है। हाँ, आपकी दृष्टि पहले उसके विषय में निरपेक्ष थी, फिर आपने उसमें आरोप करके अपने लिये बखेड़ा खड़ा कर लिया और उसके निमित्त से सुखी या दुखी होने लगे। यह बात आत्मा के सिवाय और सभी पदार्थों के विषय में समझनी चाहिये। आत्मा के अतिरिक्त पर पदार्थों में जो आत्मीयता या स्थिरता मान ली है, यही दुख का कारण है। लेकिन आरोपित वस्तु ध्रुव स्थिर या अपनी नहीं है। इस प्रकार आरोपित वस्तु पर आसक्त न होना अस्थिर को त्यागना और स्थिर को अपनाना यही बुद्धिमान का कर्त्तव्य है।

हम लोगों का भ्रम मिटाने के लिये ही गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है कि—भगवन् ! क्या यह ठीक है कि अस्थिर में भेद होता है और स्थिर में भेद नहीं होता ? क्या अस्थिर के टुकड़े हो जाते हैं और स्थिर के टुकड़े नहीं होते ? भगवान् ने उत्तर दिया—हाँ, गौतम ! जो अस्थिर हैं उस में भेद भी हो जाता है और उसके टुकड़े भी हो जाते हैं और जो स्थिर है उसके टुकड़े भी नहीं होते और उसमें भेद भी नहीं होता।

यह तो आप भी जानते हैं कि संसार में जो अस्थिर है, वह टूट जाता है, जैसे तृण के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, लेकिन

स्थिर पदार्थ नहीं टूटता, जैसे लोहे की सलाख। आप कहेंगे कि यह बात तो हम भी जानते हैं, सभी जानते हैं, इसके लिए गौतम स्वामी को भगवान् से प्रश्न करने की क्या आवश्यकता थी? लेकिन गौतम स्वामी का प्रश्न केवल व्यावहारिक दृष्टि से नहीं है, आध्यात्मिक दृष्टि से भी है। व्यावहारिक दृष्टि से घास के तिनके को कोई भी तोड़ सकता है लेकिन लोहे की शलाका को या इसी प्रकार की दूसरी चीज़ को नहीं तोड़ सकता। यद्यपि यह एकान्त नहीं है कि लोहे की शलाका तोड़ी ही नहीं जा सकती, इसका आशय यह है कि वह घास की अपेक्षा अधिक मज़बूत होती है। इसीसे भगवान् ने कहा है—हे गौतम! घास की तरह अस्थिर चीज टूट जाती है, लेकिन लोहे की तरह स्थिर चीज नहीं टूटती यह व्यावहारिक बात हुई। इसके आगे आध्यात्मिक बात कहते हैं।

कर्म घास की तरह अस्थिर हैं और आत्मा लोहे के समान स्थिर है। जैसे घास का तिनका टूट जाता है, उसी प्रकार कर्म भी टूट जाते हैं। जैसे घास के तीनके को कोई एक क्षण में तोड़ सकता है या जला सकता है, इसी तरह यदि कोई कर्म को तोड़ना या भस्म करना चाहे तो ऐसा कर सकता है। लेकिन आत्मा स्थिर है। वह न टूट सकता है, न जल सकता है। यह बात जैन शास्त्रों में तो कही ही है गीता में भी बतलाई है—

नैनं छिन्दति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

अर्थात् इस आत्मा को न तीक्ष्ण शस्त्र काट सकता है, न आग जला सकती है, न जल गीला कर सकता है, न पवन सुखा सकता है। यह अछेद्य है, अदाह्य है अक्लेद्य है, अशोष्य है, नित्य है, सर्वगत है, स्थायी है, अचल है, सनातन है।

कहा जा सकता है कि आत्मा अछेद्य कैसे है ? लोहे की सलाई को तोड़ने में कदाचित् कुछ विलम्ब हो, मगर किसी मनुष्य को मारने में कुछ भी विलम्ब नहीं लगता। इस प्रकार आत्मा सहज ही छिद जाता है। फिर उसे अछेद्य कहने का क्या अभिप्राय है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहने वाले ने शरीर को ही आत्मा समझ लिया है। आत्मा और शरीर एक नहीं हैं। शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। अगर शरीर और आत्मा एक ही हो—शरीर ही आत्मा हो तो किसी मनुष्य को या दूसरे जीवधारी को मारने वाले के हृदय में थोड़ा-बहुत कम्पन क्यों होता है ? मिट्टी की पुतली को तोड़ने-फोड़ने में हृदय नहीं धड़कता है, मगर किसी जानदार चीज को मारने-काटने के

समय हृदयमें धडकन होती है। इससे स्पष्ट है कि वह जानदार चीजहै, इसी कारण उसे मारने-काटने में हृदय काँपता है और शरीर मिट्टी की पुतली की तरह आत्मा से भिन्न है। शरीर से भिन्न आत्मा न मानना नास्तिकता है। किसी नास्तिक से पूछा जाय कि तेरे लड़के को अगर कोई मारडाले तो तुझे दुःख तो नहीं होगा ? अगर होगा तो क्यों ? दुःख तो वास्तव में नास्तिक को भी होता है। वह दुःख भी शरीर को नहीं किन्तु आत्मा को होता है। इसलिए शरीर अलग है और आत्मा अलग है। आत्मा न कटता है, न मरता है। शरीर ही कटता है, मरता है।

कोई यह आशंका कर सकता है कि कर्म अगर अस्थिर हैं तो आप ही कट जाएँगे। उन्हें काटने के लिए किसी प्रयत्न की क्या आवश्यकता है ? जो अस्थिर है, वह सदा तो रह ही नहीं सकता। इसका उत्तर यह है कि कर्म अस्थिर तो अवश्य हैं परन्तु जब आप एक कर्म कटते ही दूसरा कर्म बाँध लेते हैं या पहले के कर्म कटने से पहले ही नवीन कर्म का बंध कर लेते हैं तो पूरी तरह कर्म कैसे कट सकते हैं ? इस तरह तो कर्मों की परम्परा स्थिर ही रहती है या बढ़ती जाती है। आगे आगे कर्म न बँधने दो तो पिछले कर्म समय पाकर आप ही कट जाएँगे।

अर्जुन माली ने ११४१ मनुष्य मार कर घोर कर्म बाँधे थे लेकिन बाद में उसने संयम लिया और बेला-बेला पारणा

करना शुरू किया। पारणे के दिन वह नगर में उन्हीं के घर जाता जिनके आत्मीयजनों का घात किया था। उसने वहाँ क्षमा की ऐसी पराकाष्ठा दिखलाई कि बहुत दिनों में कटने वाले कर्म छह मास में ही कट गये। कर्म अस्थिर थे, इस कारण नष्ट हो गये। आत्मा स्थिर था, इसलिए बना रहा।

आपको भी स्थिर आत्मा पर विश्वास करना चाहिए और अस्थिर कर्म को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। उपनिषद् में भी यही कहा है कि जो स्थिर है, उसका ध्यान धरो। अस्थिर को पकड़ कर मत बैठे रहो।

आत्मा पर पूर्ण विश्वास करके उसे परमात्मा में लगा देने पर फिर किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। जैसे पत्थर पर गिरा हुआ मिट्टी का ढेला स्वयं ही फूट जाता है—पत्थर का कुछ भी नहीं बिगड़ता, वैसे ही परमात्मा का शरण ग्रहण करने से आत्मा ऐसा वज्रमय हो जाता है कि दुःख स्वयं ही चूर हो जाते हैं। आत्मा का वे कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। इसलिए स्थिर आत्मा पर विश्वास करके परमात्मा का भजन करो तो कल्याण होगा।

पण्डित और पंडितपन तथा बाल और बालपन, दोनों भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् बाल भिन्न है और बालपन भिन्न है, इसी प्रकार पण्डित और पण्डितपन भिन्न हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! बाल और बालपन तथा पण्डित और पण्डितपन में से स्थिर कौन है तथा अस्थिर कौन है ? पण्डित स्थिर है और पण्डितपन अस्थिर है तथा बाल स्थिर है और बालपन अस्थिर है ? या और कोई बात है ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम ! पण्डित स्थिर है और पण्डितपन अस्थिर है। इसी प्रकार बाल स्थिर है और बालपन अस्थिर है।

किसी हीरे के नीचे अगर लाल या काला कागज रख दिया तो हीरा लाल या काला दिखाई देने लगेगा। लेकिन वह हीरा का असली रंग नहीं है। उसका असली रंग सफेद ही है। इसलिए कालापन या लालपन अस्थिर है और हीरे का असली रंग स्थिर है क्योंकि कालिमा या लालिमा बदलती रहती है। इसी प्रकार पण्डितपन और बालपन तो उपाधि है, जो बदलती रहती है, मगर उपाधि को धारण करने वाला नहीं बदलता। अतएव उपाधि अस्थिर और उपाधि धारण करने वाला स्थिर है।

मतलब यह है कि—लोग पण्डितपन या बालपन को देखते हैं और ज्ञानी आत्मा को देखते हैं जोहरी हीरे के नीचे लगे हुए रंगीन कागज को नहीं देखता किन्तु हीरे को देखता है। अगर वह हीरे को भूलकर उसके नीचे लगे काले या लाल कागज को देखे तो जोहरी ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानीजन आत्मा

को देखते हैं। उसके साथ लगी हुई बालपन अथवा पंडितपन की पर्याय को नहीं देखते। इसी कारण भगवान् ने कहा है कि बालपन और पंडितपन पर्याय हैं और वह अस्थिर है। तथा इन को धारण करने वाला बाल या पंडित स्थिर है।

संसार की सब बातें अलग-अलग लिखी जाएँ तो पार नहीं आ सकता। अतएव उन बातों संग्रह कर लिया गया है। गौतम स्वामी ने संसार की ऊँची से ऊँची और नीची से नीची बात पकड़ी है। ऊँची बात में उन्होंने पण्डितपन पकड़ा है और नीची में बालपन पकड़ा है। इस प्रकार दोनों बातें पकड़ कर भगवान् से प्रश्न किया है। अगर दोनों के भेद किये जाएँ तो बहुत भेद हो सकते हैं। जैसे क्रोध और क्रोधी, मान और मानी आदि के विषय में भी पूछा जा सकता है। इस प्रकार बालपन की नीची कोटि में भी अनेक भेद हो सकते हैं और पण्डितपन की ऊँची कोटि में भी अनेक भेद हो सकते हैं।

यहां एक द्रव्य है, दूसरा पर्याय है। गौतम स्वामी ने अपने प्रश्न में द्रव्यार्थिकनय का भी संग्रह कर लिया है और पर्यायार्थिकनय का भी। बाल द्रव्य है बालपन पर्याय है। पण्डित द्रव्य है, पण्डितपन पर्याय है। सोना द्रव्य है, कड़ा पर्याय है। जो पलटता रहता है वह पर्याय है और जो नहीं पलटता वह द्रव्य है

यह बात तो सभी जानते हैं कि सोने का कड़ा मिट कर अंगूठी बन जाता है और अंगूठी मिट कर कड़े के रूप में परिणत हो जाती है। सोने का चाहे कड़ा बने, चाहे अंगूठी बने, सोना तो वही है। ऐसा होने पर भी साधारण जन द्रव्य को भूलकर पर्याय को पकड़ बैठते हैं। इसी लिए शास्त्र में द्रव्य और पर्याय का विचार किया गया है। गौतम स्वामी के पूछने का कारण यही है कि संसार के जीव द्रव्य को भूल गये हैं और पर्याय का ध्यान रखते हैं, मानों द्रव्य उनकी दृष्टि में कोई चीज ही नहीं है।

भगवान् ने जो उत्तर फर्माया, उसका आशय यह है कि द्रव्य शाश्वत है और पर्याय अशाश्वत है।

बालपन दो प्रकार का है-व्यवहार से और निश्चय से। व्यवहार में बालक को या अज्ञानी को बाल कहते हैं, लेकिन निश्चय में बाल वह है जिसने संयम नहीं लिया है। जब तक संयम धारण नहीं किया, तब तक कोई कैसा ही विद्वान क्यों न हो, बाल ही है। गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि इन्द्र को ऐसा अवधिज्ञान है कि वह अपने स्थान पर बैठा हुआ नरक तक का हाल जान सकता है। वह इन्द्र बाल है या पंडित है? भगवान् ने उत्तर दिया है—देव पंडित नहीं, बाल है।

गौतम स्वामी ने फिर पूछा—भगवन्! देवों को इतना ज्ञान होता है फिर भी वे बाल क्यों हैं? भगवान् ने फर्माया—उन्हें

जैसा ज्ञान है, वैसा आचरण वे नहीं करते, इस कारण देव बाल हैं।

गौतम स्वामी ने पुनः प्रश्न किया-भगवन्! एक साधु को ज्ञान तो ज्यादा नहीं है, केवल पांच समिति और तीन गुप्ति आदि का ही ज्ञान है, वह बाल है या पण्डित है? भगवान ने उत्तर दिया-वह साधु पंडित है, क्योंकि वह ज्ञान के अनुसार आचरण करता है।

कोई कह सकता है कि भगवान स्वयं साधु थे, अतएव उन्होंने साधु को पण्डित कह कर पक्षपात किया है। लेकिन जरासे गहरे विचार से मालूम होगा कि उन्होंने पक्षपात नहीं किया किन्तु यथार्थ ही कहा है। जिसने ज्ञान प्राप्त किया है पर जो उसे आचरण में नहीं लाता, उसका ज्ञान किस काम का? इसके विपरीत जिसे थोड़ा ज्ञान है, परन्तु वह उसके अनुसार स्वयं आचरण करता है तो उसका ज्ञान काम का है। जिसमें ज्ञान है, किन्तु जो अज्ञानजन्य कष्टों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता-जो पापों को नहीं त्यागता वह वस्तुतः अज्ञान अर्थात् बाल ही है।

कोई स्त्री भोजन बनाना जानती है, लेकिन भोजन सामग्री होने पर भी वह स्वयं भूखों मर रही है। वह कहती है—मुझसे अपने लिए भोजन नहीं बनाया जाता। ऐसी स्थिति में उसकी

जानकारी किस काम की ? वह जानकारी भी अज्ञान है। यह क्रियात्मक ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान है। जिसे ज्ञान का फल तनिक भी प्राप्त नहीं हुआ, वह अज्ञानी ही कहलाएगा।

भगवान् कहते हैं—गौतम ! देव बहुत कुछ जानते हैं, उनका ज्ञान आचरण हीन है। वे कहते हैं-हम ज्ञान से वस्तु का स्वरूप जान सकते हैं, मगर क्रिया करने में असमर्थ हैं इस प्रकार वे अपनी लाचारी प्रकट करते हैं। इसलिए भगवान कहते हैं—देव में क्रियात्मक ज्ञान नहीं है इसी से वे बाल हैं।

एक आदमी को ज्यादा ज्ञान नहीं है, लेकिन जितना है वह उतना काम करता है। दूसरे को ज्ञान ज्यादा है लेकिन उस के अनुसार काम कुछ भी नहीं करता। जैसे स्त्रियाँ ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं होती फिर भी वे शक्कर, नमक आदि को जानती हैं और यह भी जानती हैं कि उनका उपयोग कहाँ और किस प्रकार किया जाता है। ऐसी स्त्री अधिक पढ़ी लिखी न होने पर भी बुद्धिमति कहलाती है। इसी प्रकार साधु को चाहे अधिक ज्ञान न हो, लेकिन वह हिंसा-करने को बुरा समझता है तो न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरे से करवाता है और न हिंसा करने वाले को भला ही समझता है। इसी प्रकार साधु ने असत्य, चोरी अब्रह्मचर्य और परिग्रह को बुरा जाना है तो उनका पूर्ण रूप से त्याग भी कर दिया है। साधु धर्मोपकरण के सिवाय और

कोई उपाधि नहीं रखते। इस प्रकार साधु जितना जानते हैं, उतना आचरण भी करते हैं। इसी कारण वे पंडित हैं। देव या और कोई मनुष्य जानता भले ही ज्यादा हो मगर आचरण न करने के कारण बाल है।

भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा है— बाल शाश्वत है और बालपन अशाश्वत है। इसी तरह पंडित शाश्वत और पंडितपन अशाश्वत है।

इस उत्तर पर यह आशंका हो सकती है कि जब बालपन अशाश्वत है तो बाल शाश्वत कैसे है? बालपन दूर होते ही जीव बाल नहीं रह जाता। इसलिए बाल और बालपन दोनों अशाश्वत होने चाहिये। ऐसा ही प्रश्न पंडित और पंडितपन के विषय में भी किया जा सकता है।

इस प्रकार की बातें समझ लेने पर ही जैन दर्शन का रहस्य मालूम हो सकता है। जैन सिद्धान्त की यह मान्यता है कि कोई वस्तु एकान्त रूप नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक यानी अनेक धर्ममय है। उदाहरणार्थ—एक पिता अपने पुत्र को पुत्र रूप में ही देखता है, मगर वह पुत्र अपने पिता की अपेक्षा से ही पुत्र है। वह अपने पुत्र की अपेक्षा पुत्र नहीं, वरन् पिता है। पिता जिसे अपना पुत्र मान रहा है, वह अपने पुत्र की अपेक्षा अपने को पिता मानता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति

में दो बातें घटित हुईं। यों साधारण रूप से पितापन और
पुत्रपन परस्पर विरोधी से प्रतीत होते हैं, पर अपेक्षा का विचार
करने से एक ही व्यक्ति में रहते हुए स्पष्ट मालूम होते हैं। जिसे
पिता कहा जाता है वह पुत्र भी है और जिसे पुत्र कहा जाता
है वह पिता भी है। जो लड़की कहलाती है, वही माता भी कह-
लाती है और अपने पौत्र की अपेक्षा दादी भी कहलाती है।
यह सब पदार्थ हैं—अनित्य और सापेक्ष हैं। द्रव्य नित्य, वह
कभी पलटता नहीं है।

नित्यता और अनित्यता आदि धर्म भी सापेक्ष हैं। नित्यता
के बिना अनित्यता नहीं रह सकती और अनित्यता के अभाव में
नित्यता का होना संभव नहीं है। द्रव्य के बिना पर्याय और
पर्याय के बिना द्रव्य कभी नहीं हो सकता। वह सोना कभी
किसी ने देखा है जो कड़ा या डली आदि किसी पर्याय के साथ
न हो? और सोने की कड़ा आदि कोई पर्याय सोने के अभाव
में दिखाई देती है? नहीं। द्रव्य और पर्याय अविनाभावी हैं।
एक दूसरे के बिना हो ही नहीं सकते। इसी लिए कहा है—

द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्य वर्जिताः।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा? ॥

अर्थात्—पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय
कहीं, कभी किसी ने किसी रूप में देखे हैं? और किस प्रमाण
से देखे हैं? अर्थात् नहीं देखे।

सोना वही है, जिससे कड़े भी बन जाएँ, कंठी भी बन जाय, फिर भी सोना ज्यों का त्यों बना रहे। इसी प्रकार जीव भी वही है, जो बाल भी हो जाय, पंडित भी हो जाय, लेकिन जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहता हुआ जीव ही बना रहे।

पर्याय को अनित्य और जीव द्रव्य को नित्य मानने से बड़ा ज्ञान होता है। जिस मिट्टी का घड़ा न बन सकता हो वह मिट्टी नहीं है और घड़ा बनने पर जो मिट्टी न रहे वह भी मिट्टी नहीं है। मिट्टी स्वयं घड़ा नहीं है लेकिन उसमें घड़ा बनने की शक्ति है। इसी से कुंभार अपने लड़के से कहता है–'मिट्टी का और घड़ा बना।' इसी प्रकार अगर आत्मा, परमात्मा न बन सकता हो तो परमात्मा बनाने के लिये उपदेश ही क्यों दिया जाय? आत्मा परमात्मा नहीं बना है, लेकिन बन सकता है। इसीलिये उपदेश दिया जाता है। आत्मा, जब परमात्मा बन जाता है तब भी जीव द्रव्य अपने स्वरूप में स्थिर ही रहता है। इस प्रकार जीव द्रव्य नित्य और उसके समस्त पर्याय अनित्य हैं।

सारांश यह है कि द्रव्य नित्य होता है और पर्याय अनित्य होती है। बाल जीव और पंडित जीव द्रव्य रूप होने के कारण नित्य हैं और बालपन तथा पंडितपन पर्याय रूप होने के कारण अनित्य हैं।

यह पहले ही कहा जा चूका है कि अस्थिर पलटता है और स्थिर कभी नहीं पलटता। अथवा जो पलटता है वह अस्थिर है और जो नहीं पलटता वह स्थिर है। इस वर्णन के आध्यात्मिक पक्ष में यह भी कहा जा चुका है कि आत्मा स्थिर है और कर्म अस्थिर हैं।

आत्मा स्थिर है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता ही नहीं है। इसका अर्थ यह है कि आत्मा अपने धर्म का (स्वभाव का) परित्याग नहीं करता। जीवास्तिकाय के प्रकरण में बतलाया गया है कि उसे पांच बोलों से जानना चाहिए (१) द्रव्य से अनन्त (२) क्षेत्र से लोक प्रमाण (३) काल से आदि अन्त रहित (४) भाव से अरूपी और (५) गुण से चैतन्य या उपयोग रूप।

प्रत्येक वस्तु गुण से पहचानी जाती है। कोई कहता है-जीव को आप देखते हैं? तो उससे यही कहा जायगा कि जीव अरूपी है। वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसका कोई वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं है। इस कारण उसे कैसे देख सकते हैं? इस कथन पर फिर प्रश्न उठता है—अगर जीव अरूपी है तो केवल ज्ञान उत्पन्न होने से पहले उसे जानना असम्भव है। और जब तक जीव की पहचान न हो जाय, दया किसकी करें? इसका समाधान करने के लिए शास्त्र कहता है-जीव को गुण से

पहचानो। कोई वस्तु आँख से जानी जाती है, कोई बुद्धि तथा अनुमान से भी जानी जाती है। जो वस्तु आँख से नहीं जानी जा सकती वह बुद्धि तथा अनुमान से जानी जा सकती है। जैसे समुद्र के एक किनारे पर खड़े होने पर एक किनारा तो दिखाई देता है, लेकिन दूसरा किनारा नहीं दिखाई देता फिर भी एक किनारा देख कर अनुमान से यह जाना ही जाता है कि जब एक किनारा है तो दूसरा किनारा भी होगा ही। इस प्रकार दूसरा किनारा आँख से न दीखने पर भी उसे जानते हैं। आप ने अपने पूर्वजों में ज्यादा से ज्यादा अपने दादा या परदादा को ही देखा होगा। मगर उन्हें देख कर आप यह भी जान सकते हैं कि उनके भी दादा, परदादा आदि रहे होंगे। ऐसी अवस्था में यह कहना कि जीव आँख से दीखना ही चाहिये, केवल हठ ही कहा जा सकता है। जो आँख से नहीं दीखता वह बुद्धि और अनुमान से जाना जा सकता है।

जीव किस प्रकार दिखाई दे सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चैतन्य गुण को देखकर ही उसे जान सकते हैं। कोई पूछे कि जीव कहां है ? उससे यही कहा जायगा कि यह पूछने वाला ही तो जीव है। जीव है या नहीं है, इस प्रकार का तर्क करने वाला जीव ही है।

सारांश यह है कि जीव स्थिर है, इस कथन में जीव का चैतन्यगुण लेना चाहिए। अर्थात् यह समझना चाहिए कि जीव

का चैतन्यगुण कभी नष्ट नहीं होता। जीव देव हो अथवा नारकी हो, तिर्यञ्च हो या मनुष्य हो, उसका चैतन्य गुण तो कायम ही रहता है। किसी भी अवस्था में जीव अचेतन नहीं हो सकता। जीव भूतकाल में भी चेतन था, वर्तमान में भी चेतन है और संसार की सारी शक्ति संगठित हो जाय तो भी वह अचेतन नहीं होगा। जीव के इस गुण को ही भगवान् ने जोर देकर बतलाया है।

प्रश्न होता है कि जब उपयोग, चैतन्य या ज्ञान जीव का स्वरूप है तो इस गुण की न्यूनता या अधिकता क्यों देखी जाती है ? वह किसी में ज्यादा और किसी में कम क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि अगर इस प्रकार की कमी-वेशी न हो तो जीव, जीव ही न रहे। विकास धर्म की अपेक्षा इसका कम-ज्यादा होना भी गुण ही है। एक बालक में उपयोग तो होता है मगर वह बड़े आदमी की तरह नहीं समझता। जब उसका विकास होता है तो उसके उपयोग का भी विकास होता है और उपयोग का अगर पूर्ण विकास हो जाय तो पहले का वही बालक अनन्त ज्ञानवान् भी हो जाता है। उपयोग का पूर्ण विकास केवली में ही पाया जाता है। अन्य जीवों को उनके क्षयोपशम के अनुसार उपयोग होता है। इस क्षयोपशम भाव से क्षायिक भाव का भी पता चल जाता है। अर्थात् यह समझा जा सकता

है कि जब क्षयोपशम भाव होता है तो क्षायिक भाव भी हो ही सकता है। बल्कि क्षयोपशम भाव के नीचे ही क्षायिक भाव दबा हुआ है।

क्षयोपशम भाव से क्षायिक भाव का पता कैसे लग सकता है, यह समझने के लिए एक उदाहरण लीजिये। आपने तीन सौ गुनी और पाँच सौ गुनी मीठी शक्कर का होना सुना होगा। सुना है-वह एक जर्मन वैज्ञानिक की शोध है। एक जगह एँजिन आदि से निकाला हुआ कुड़ा करकट बहुत पड़ा था। उस वैज्ञानिक ने सोचा—देखना चाहिये इस कचरे में भी कोई तत्त्व है या नहीं ? वह कचरा उठवाकर अपनी रसायनशाला में ले गया। वहाँ उसकी जाँच करने लगा। उसकी जाँच का कार्य चल ही रहा था कि इतने में भोजन का समय हो गया और वह भोजन करने चला गया।

पाश्चात्य लोग समय के बहुत पाबंद हैं। वह पैसे की अपेक्षा समय की कद्र ज्यादा करते हैं। आपका अगर एक पैसा खो ज़ाय तो उसे ढूँढ़ने में आप शायद दो घंटे लगा दें। आप यह नहीं सोचेंगे कि इस एक पैसे के लिए मेरा कितना समय खर्च हो रहा है। मगर पश्चिम के लोग समय के सामने पैसे को भी कुछ नहीं समझते।

हां, तो वह वैज्ञानिक भोजन करने बैठा। उसने जैसे पहला ग्रास मुँह में रक्खा कि उसे मिठास मालूम हुई। उसने

भोजन बनाने वाले से पूछा—क्या इस भोजन में शक्कर डाली है ? उसने मना किया । तब वैज्ञानिक ने सोचा-शायद मेरे ही हाथ में कुछ लगा हो ! उसने अपने हाथ धोये और फिर भोजन करने लगा । उसे भोजन फिर भी मीठा लगा । तब उसने विचार किया-हो न हो, यह मिठास परीक्षण की जाने वाली वस्तु में से ही आई है । उसने झटपट भोजन किया और रसायन शाला में जाकर फिर अपनी खोज में लग गया । अन्त में उसने पहले साधारण शक्कर से तीन सौ गुनी मीठी शक्कर निकाली और फिर पांच सौ गुनी मीठी ।

अगर कूड़े में शक्कर का होना बतलाया जाय तो कौन मानेगा ? मगर उस वैज्ञानिक ने प्रत्यक्ष निकाल कर दिखला दी । बाह्य दृष्टि से देखने पर कूड़े में शक्कर नहीं दीखती, मगर वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर दिखाई दी । शक्कर उस कूड़े में विद्यमान थी, तभी उसमें से निकल सकी । अन्यथा कहां से आती ?

यही बात ज्ञानी कहते हैं । उनका कहना है कि जिस तरह विज्ञान द्वारा कूड़े में शक्कर का पता लगा, उसी तरह क्षयोपशमभाव द्वारा क्षायिक भाव का पता लगता है । प्राण दस माने जाते हैं, मगर संग्रह-रूप प्राण चार ही हैं:—इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुष्यप्राण और श्वासोच्छ्वासप्राण । यह प्राण आत्मा के

अनन्त प्राण से संबंधित हैं । यह प्राण समझाते हैं कि हम क्षयोपशमभाव में हैं । जीव भले ही एकेन्द्रिय हो, तब भी उसमें यह चार प्राण तो रहते ही हैं । क्षायोपशमिक भाव के यह प्राण क्षायिक भाव का पता देते हैं । अगर कोई क्षायिक भाव को यों ही देखना चाहे तो कैसे देख सकता है ? हां, जैसे कूड़े में शक्कर देखने के लिए रासायनिक क्रिया की आवश्यकता है, उसी प्रकार जिस क्रिया द्वारा क्षायिक भाव जाना जा सकता है, वह क्रिया करे तो क्षायिक भाव भी प्रकट हो सकता है ।

जीव जबतक क्षयोपशमभाव में विद्यमान है, तबतक ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही ज्ञान की मात्रा प्रकट होती है । क्षयोपशम कम होता है तो ज्ञान भी कम होता है । क्षयोपशम की अधिकता होने पर ज्ञान भी अधिक हो जाता है । किन्तु जीव जब क्षायिक भाव में आता है, तब वह अपने असली स्वरूप में आ जाता है । उस समय सभी क्षायिक भाव वालों का ज्ञान समान ही होता है । उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती । मगर ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञानावरण कर्म का क्षयो-पशम कितना भी कम क्यों न हो जाय, कुछ न कुछ रहता अवश्य है । इसी कारण उपयोग गुण नित्य है । वही जीव का लक्षण है । इस लक्षण से ही जीव की पहचान होती है और इसी से जीव की नित्यता सिद्ध होती है ।

यहां बाल और पंडित को शाश्वत कहने का कारण यही है कि वे द्रव्य रूप हैं और बालपन तथा पंडितपन को अशाश्वत कहने का कारण उनका पर्याय रूप होना है।

जिसमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हो वह द्रव्य कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्।' जो उत्पन्न भी हो, विनष्ट भी हो फिर भी ध्रुव रहे वह द्रव्य है। बाल और पंडित जीव द्रव्य रूप विवक्षित हैं। उनमें बालपन और पंडितपन पर्यायों का उत्पाद और विनाश होता है। यह होने पर भी द्रव्य—बाल और पंडित जीव—ध्रुव ही रहता है। उदाहरण के लिए लौकिक बालक को लीजिए। वह जब तक कच्ची उम्र का है और समझदार नहीं है, तब तक बालक कहलाता है, लेकिन जब पढ़ लिखकर होशियार हो जाता है तब पंडित कहलाने लगता है। दूसरी तरह से जो अठारह वर्ष से कम आयु का हो उसे नाबालिग यानि बाल कहते हैं। इससे अधिक उम्र होने पर बालिग यानी समझदार कहा जाता है। व्यक्ति एक होने पर भी उसकी पर्याय का पलटा होता है। उसकी बालपन-पर्याय का नाश हुआ, पंडितपन या समझदारपन पर्याय का उत्पाद हुआ और द्रव्य रूप आत्मा ध्रुव—जैसे का तैसा—है। अगर पर्याय के साथ द्रव्य का भी नाश माना जाय तो संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं रहेगी। मगर स्थिरता तो अनुभव सिद्ध है। आप अपने कहते हैं

एक दिन मैं बालक था, आज बूढ़ा या जवान हो गया हूँ। इस प्रकार बाल्यावस्था त्याग कर वृद्धावस्था में आने वाला वह कौन है? वह आत्मा ही है। बालपन चला गया, मगर जो बाल था, वह आत्मा तो है ही। इसी कारण बालकपन को अस्थिर और बाल को स्थिर कहा है।

यही बात पंडित और पंडितपन के लिए भी समझना चाहिए। पंडित द्रव्य है जो स्थिर है और पंडितपन पर्याय है और वह अस्थिर है।

इस प्रश्नोत्तर का सार यही है कि द्रव्य स्थिर है और पर्याय अस्थिर है। इस सिद्धान्त से हम लोगों को बड़ा सहारा मिलता है। लोग पर्याय पलटने के समय द्रव्य को मानों भूल जाते हैं। इस कारण ऐसे समय में एक भ्रमदशा उत्पन्न हो जाती है। उस भ्रमपूर्ण दशा को मिटाने के लिए ही द्रव्य और पर्याय का ज्ञान करने की आवश्यकता है। यानी यह बात समझ लेने की आवश्यकता है कि जो पलटा है वह पर्याय है और द्रव्य सदैव स्थिर है। वह कभी नहीं पलट सकता। ऐसा समझ लेने पर पर्याय है के पलटने से होने वाला दुःख नहीं सता सकता।

प्रश्न किया जा सकता है कि पर्याय पलटती है तो सिद्ध-अवस्था भी पर्याय है, अतएव वह भी पलटनी चाहिए। अगर सिद्ध अवस्था नहीं पलटती है, उसे ध्रुव मानते हो तो पर्याय ध्रुव

ठहरती है। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी पर्याय हैं। इनका भी पलटा होना चाहिये। ऐसा नहीं होता तो पर्याय को ध्रुव कहना चाहिये।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सिद्ध में भी पर्याय का परिवर्त्तन होता रहता है। मगर वह परिवर्तन सिद्ध दशा के अनुकूल ही होता है। सिद्धों में पर्याय का परिवर्त्तन किस प्रकार होता है, यह बात समझने के लिये एक उदाहरण लीजिए। जैसे-मेरे हाथ की लकड़ी अभी दाहिने हाथ में है। सिद्ध भगवान् अपने ज्ञान में उसे दाहिने हाथ में ही देख रहे हैं। लेकिन मैंने यही लकड़ी बाएँ हाथ में ले ली। तब वे भी अपने ज्ञान में यही देखेंगे। इस प्रकार छह द्रव्यों में जो परिवर्त्तन हो रहा है, वह सब सिद्धों के ज्ञानमें भी झलक रहा है और उसी अनुरूप ज्ञान में भी परिवर्तन होता रहता है। अगर सिद्धों के ज्ञान में इस प्रकार का परिवर्तन न हो तो सिद्ध, जीव न रहकर अजीव हो जाएँ। पदार्थ में जो भी परिवर्तन होता है, वह उनके ज्ञान में भी होता है। जैसे कांच के सामने जो भी दृश्य होता है, वही कांच में दिखाई देता है और जब-जब दृश्य पलटता है तब-तब उसका पलटना काच में भी दिखाई देता है। इसी प्रकार जो कुछ भी पलटता है वह भगवान सिद्ध के ज्ञान रूपी काच में भी दिखाई देता है। इस भांति सिद्ध की अवस्था में परिवर्तन होता है।

अब यह निश्चित हो गया कि द्रव्य सदैव स्थिर है। वह हमेशा ज्यों का त्यों बना रहता है। मगर पर्याय का परिवर्तन-प्रतिक्षण होता रहता है। इसी सिद्धान्त में स्याद्वाद का सारा सार समा जाता है। अतएव इसे सम्यक् प्रकार से समझो तो आपका कल्याण होगा।

भगवान् का यह उत्तर सुनकर गौतम स्वामी ने कहा—'सेवंभंते ! सेवंभंते !' अर्थात् हे प्रभो आपका फर्माना सत्य है। हे प्रभो ! आपका वचन तथ्य है।

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्

प्रथम शतक — दसवां उद्देशक

विषय प्रवेश

श्रीभगवती सूत्र के प्रथम शतक का नौवाँ उद्देशक पूर्ण हुआ। यहाँ दसवें उद्देशक का आरम्भ किया जाता है। नौवें उद्देशक की समाप्ति में गौतम स्वामी ने भगवान से 'सेवं भंते ! सेवं भंते !' कहा था। वह कहने के पश्चात् वे फिर 'जायसंसए' अर्थात् जात संशय हुए। जातसंशय होने पर उनमें प्रश्न पूछने की श्रद्धा उत्पन्न हुई। अतएव गौतम स्वामी फिर प्रश्न पूछने के लिए तैयार हो गये।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि गौतम स्वामी चार ज्ञान के धनी पर केवली न होते हुए भी केवली के समान थे। फिर उनके मन में प्रश्न करने की जो तरंग आई, उसका एक मात्र कारण यही है कि वे दीन दयाल और परम करुणावान थे। इस लिए खुद को शंका न होने पर भी उन्होंने हमारे हित के

लिए भगवान् से प्रश्न किये हैं । गौतम स्वामी प्रत्येक तत्व पर भगवान् के ज्ञान की मोहर लगवाना चाहते थे और भगवान् के नाम पर ही उसे प्रसिद्ध करना चाहते थे । इसके अतिरिक्त उस समय दार्शनिक चर्चा भी खूब हुआ करती थी । अतएव जो भी दार्शनिक चर्चा होती, गौतम स्वामी उसे भगवान् के समक्ष उपस्थित कर देते और उस पर भगवान् का निर्णय जान लेते थे ।

चर्चा से कभी घबराना नहीं चाहिए, न क्षुब्ध होना चाहिए। अगर कभी घबराहट या क्षोभ हो तो समझना चाहिए कि अभी मुझ में अपूर्णता है । जब हमारे सामने भगवान् की वाणी विद्यमान है तो घबराने की जरूरत ही क्या है ?

भगवान् के समय खूब दार्शनिक चर्चा हुआ करती थी । सारा भारत उस समय तात्विक खोज में लगा था । आध्यात्मिक विषय के सामने इतिहास, भूगोल या आधुनिक विज्ञान आदि सब विषय गौण हो गये थे । अनेक विद्वानों का ऐसा कथन है कि भारत पहले आध्यात्मिकता की ओर ही अधिक झुका हुआ था । अन्य विषयों की ओर उसका ध्यान बहुत कम था । गौतम स्वामी के बार-बार प्रश्न करने का एक कारण तत्कालीन दार्शनिक चर्चा भी हो सकता है ।

जिस समय दार्शनिक और आध्यात्मिक चर्चा की बहुलता थी, वह समय कितने आनन्द का रहा होगा, जिस समय समाज में जैसी भावना प्रबल होती है, उस समय वैसा ही साहित्य भी

बनता है। युद्ध काल में गोला-बारूद का ही साहित्य बनता है। ऐसे समय में शांति के साहित्य को कौन पूछता है ?

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और फिर पूछने लगे—

मूलपाठ—

प्रश्न—अन्नउत्थिया णं भंते ! एवं आइक्खंति, जाव-एवं परूवेंति—'एवं खलु चलमाणे अचलिए, जाव निज्जरिज्जमाणे अणिज्जिणे।'

'दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहणंति। कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगंततो न साहणंति? दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं नत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहणंति।

'तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति। कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति? तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपो-

ग्गला एगयओ साहणंति। ते भिज्जमाणा दुहा वि, तिविहा वि कज्जंति। दुहा कज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवइ, एगयओ वि दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवइ। तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति। एवं जाव-चत्तारि।'

'पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति, साहणित्ता दुक्खत्ताए कज्जंति। दुक्खे वि य णं से सासए सया समिअं उवचिज्जई य अवचिज्जई य।'

'पुव्विं भासा भासा। भासिज्जमाणी भासा अभासा। भासा समय वितिक्कंतं च णं भासिआ भासा।'

'जासा पुव्वं भासा भासा। भासिज्जमाणी भासा अभासा। भासासमयवितिक्कंतं च णं

भासिआ भासा । सा किं भासओ भासा ? अभासओ भासा ? अभासओ णं सा भासा । नो खलु सा भासओ भासा ।

'जा सा पुव्वं किरिया दुक्खा । कज्जमाणी किरिया अदुक्खा । किरिया समय-वितिक्कंतं च णं कडाकिरिया दुक्खा ।'

'जा सा पुव्वं किरिया दुक्खा । कज्जमाणी किरिया अदुक्खा किरियासमयवितिक्कंतं चणं कडा किरिया दुक्खा । सा किं करणओ दुक्खा ? अकरणओ णं सा दुक्खा । नो खलु सा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया ।'

'आकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणभूअ-जीव सत्ता वेदणं वेदंति इति वत्तव्वं सिया ।'

से कहमेअं भंते ! एवं ?

उत्तर—गोयमा ! जे णं ते अन्नउत्थिया एवं आइक्खंति, जाववेदणं वेदेति वत्तव्वं सिया । जे ते एवं आहिंसु, मिच्छा ते एवं आहिंसु । अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि 'एवं खलु चलमाणे चलिए, जाव—निज्जरिज्जमाणे निज्जिणणे' ।

दो परमाणुपुग्गला एगयओ साहणंति । कम्हा दो परमाणुपुग्गला एगयओ साहणंति? दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति । ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ परमाणुपोग्गले भवंति ।

तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति । कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ

साहणंति ? तिगहं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिरिण परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति । ते भिज्जमाणा दुहा वि, तिहा वि कज्जंति । दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गल, एगयओ दुपएसिए खंधे भवंति । तिहा कज्जमाणा तिरिण परमाणुपोग्गला भवंति । एवं जाव—चत्तारि ।

पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति । एगयओ साहणित्ता खंधत्ताए कज्जंति । खंधेवि य णं से असासए सया समिअं उवचिज्जइ य, अवचिज्जइ य ।

पुव्विं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा, भासासमयावितिक्कंतं च णं भासिआ भासा अभासा; सा किं भासओ भासा ? अभासओणं भासा । णो खलु सा अभासओ भासा ।

पुव्विं किरिया अदुक्खा । जहा भासा जहा भासा तहा भाणिअव्वा । किरिया वि जाव-करणओ सा दुक्खा खलु सा अकरणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया ।

किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाण-भूअ-जीव-सत्ता वेदणं वेदेंति, इति वत्तव्वं सिया ।'

संस्कृत-छाया—

प्रश्न--अन्य यूथिका भगवन् ! एवमाख्यान्ति, यावत् प्ररूपयन्ति—'एवं खलु चलमानम् अचलितम्, यावत्—निर्जीर्यमाणम् अनिर्जीर्णम् ।'

द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतो न संहन्येते । कस्माद् द्वौ परमाणु-पुद्गलौ एकतो न संहन्येते ? द्वयोः परमाणुपुद्गलयोः नास्ति स्नेहः कायः, तस्मान् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतो न संहन्येते ।

त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्येते । कस्मात् त्रयः परमाणु-पुद्गलाः एकतः संहन्येते ? त्रयाणां परमाणुपुद्गलानाम् अस्ति स्नेह-कायः, तस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यन्ते । ते भिद्यमाना द्विधा अपि, त्रिविधा अपि क्रियन्ते । द्विधा क्रियमाणा एकतो

द्व्यर्धः परमाणुपुद्गलो भवति, एकतोऽपि द्व्यर्धः परमाणुपुद्गलो भवति। त्रिधाक्रियमाणा त्रयः परमाणुपुद्गला भवन्ति। एवं यावत्—चत्वारः।

पञ्चपरमाणुपुद्गला एकतः संहन्यन्ते, संहत्य दुःखतया क्रियन्ते दुःखमपि च तत् शाश्वतं सदा समितम् उपचीयते च, अपचीयते च।

पूर्वं भाषा भाषा। भाष्यमाणा भाषा अभाषा। भाषासमयव्यक्तिक्रान्ता च भाषिता भाषा।

या सा पूर्वं भाषा भाषा, भाष्यमाणा भाषा अभाषा, भाषासमयव्यक्तिक्रान्ता च भाषिता भाषा, सा किं भाषमाणस्य भाषा? अभाषमाणस्य सा भाषा। नो खलु सा भाषमाणस्य भाषा।

या सा पूर्वं क्रिया दुःखा क्रियमाणा क्रिया अदुःखा, क्रियासमयव्यतिक्रान्ता च कृता क्रिया दुःखा।

या सा पूर्वं क्रिया दुःखा क्रियमाणा क्रिया अदुःखा, क्रियासमयव्यतिक्रान्ता च कृता क्रिया दुःखा, सा किं करणतः दुःखा, अकरणतो दुःखा? अकरणतः सा दुःखा, नो खलु सा करणतो दुःखा, तदेवं वक्तव्यं स्यात्।

अकृत्यं दुःखम्, अस्पृश्यं दुःखम्, अक्रियमाण कृतं दुःखम्, अकृत्वा प्राण-भूत-जीव-सत्वा वेदनां वेदयन्ति, इत्ति वक्तव्यं स्यात्।

तत् कथमेतत् भगवन् एवम्?

उत्तर—गौतम यत्ते अन्यतीर्थिका एवम् आख्यान्ति, यावत् वेदनां वेदयान्ति इत्ति वक्तव्यं स्यात्, ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः। अहं पुनर्गौतम ! एवमाख्यामि-एवं खलु चलमानं चलितम्, यावत् निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम् ।

द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः संहन्यन्ते । कस्माद् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः संहन्यन्ते ? द्वयोः परमाणुपुद्गलयोः अस्ति स्नेहकायः, तस्माद् द्वौ परमाणुपुद्गलौ एकतः संहन्येते । तौ भिद्यमानौ द्विधा क्रियते । द्विधा क्रियमाणौ एकतः परमाणुपुद्गलः, एकतः परमाणुपुद्गलो भवतिः ।

त्रयः परमाणुपुद्गलाः एकतः संहन्यते । कस्मात् त्रयः परमाणुपुद्गला एकतः संहन्यन्ते ? त्रयाणां परमाणुपुद्गलानाम् अस्ति स्नेहकायः, तस्मात् त्रय परमाणुपुद्गला एकतः संहन्यन्ते । ते भिद्यमाना द्विधाअपि, त्रिधा अपि क्रियन्ते । द्विधा क्रियमाणा एकतः परमाणुपुद्गलः, एकतः द्विप्रदेशिकः स्कन्धो भवति । त्रिधा क्रियमाणाः त्रयः परमाणुपुद्गला भवन्ति । एवं यावत्—चत्वारः ।

पञ्च परमाणुपुद्गला एकतः संहन्यन्त । एकतः संहत्य स्कन्धतया क्रियन्ते । स्कन्धो अपि च स अशाश्वतः, सदा समितम् उपचीयते च अपचीयते च ।

पूर्वं भाषा अभाषा, भाष्यमाणी भाषा भाषा, भाषासमयव्यति-क्रान्ता च भाषिता अभाषा ।

या सा पूर्वं भाषा अभाषा । भाष्यमाणी भाषा भाषा, भाषा-समयव्यतिक्रान्ता च भाषिता भाषा अभाषा; सा किं भाषमाणस्य भाषा, भाषमाणस्य अभाषमाणस्य भाषा ? भाषमाणस्य भाषा, नो खलु सा अभाषमाणस्य भाषा ।

पूर्वं क्रिया अदुःखा, यथा भाषा तथा भणितव्या । क्रियाऽपि यावत्—करणतः सा दुःखा, नो खलु सा अकरणतो दुःखा । तदेवं वक्तव्यं स्यात् ।

कृत्यं दुःखं, स्पृश्यं दुःखं, क्रियमाणकृतं दुःखं, कृत्वा कृत्वा प्राण-भूत-जीव-सत्त्वा वेदनां वेदयन्ति, इति वक्तव्यं स्यात् ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! अन्यतीर्थी इस प्रकार कहते हैं—यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं कि—'जो चल रहा है, वह चला नहीं कहलाता और यावत्—जो निर्जर रहा है, वह निर्जीर्ण नहीं कहलाता ।'

'दो परमाणु पुद्गल एक साथ नहीं चौंटते । दो परमाणु पुद्गल एक साथ क्यों नहीं चौंटते ? दो परमाणु

पुद्गलों में चिकनापन नहीं है, इसलिए दो परमाणु पुद्गल एक साथ नहीं चौंटते।'

'तीन परमाणु पुद्गल एक दूसरे से चौंट जाते हैं। तीन पुद्गल परमाणु आपस में क्यों चौंटते हैं ? तीन परमाणु पुद्गलों में चिकनापन होता है, इस कारण तीन परमाणु पुद्गल आपस में चौंटते हैं ? अगर तीन परमाणु पुद्गलों के भाग किये जाएँ तो दो भाग भी हो सकते हैं और तीन भाग भी हो सकते हैं। अगर तीन परमाणु पुद्गलों के दो भाग किये जाएँ तो एक तरफ डेढ़ परमाणु होता है और दूसरी तरफ भी डेढ़ परमाणु हो जाता है। और यदि तीन परमाणु पुद्गल के तीन भाग किये जाएँ तो एक-एक करके तीन परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार यावत् चार परमाणु पुद्गलों के विषय में समझना चाहिए।'

'पांच परमाणु पुद्गल आपस में चौंट जाते हैं और दुःखरूप में-कर्मरूप में-परिणत होते हैं। वह दुःख-कर्म-शाश्वत है और सदा भलीभांति उपचय को प्राप्त होता है तथा अपचय को प्राप्त होता है।'

'बोलने से पहले जो भाषा अर्थात् भाषा के पुद्गल हैं, वह भाषा है। बोलते समय की भाषा अभाषा है और बोलने के बाद की भाषा, भाषा है।'

'यह जो (बोलने से) पहले की भाषा, भाषा है और बोलते समय की भाषा, अभाषा है तथा बोलने के बाद की भाषा, भाषा है, सो क्या बोलते पुरुष की भाषा है या अनबोलते पुरुष की भाषा है ? (उत्तर) अनबोलते पुरुष की वह भाषा है, बोलते पुरुष की वह भाषा नहीं है।'

'वह जो पूर्व की क्रिया है, वह दुःखरूप है। वर्त्तमान में की जाती क्रिया दुःखरूप नहीं है और करने के समय के बाद की-कृत-क्रिया भी दुःखरूप है।'

'वह जो पूर्व की क्रिया है, वह दुःख का कारण है। की जाती हुई क्रिया दुःख का कारण नहीं है, और करने के समय के बाद की क्रिया दुःख का कारण है, तो वह क्या करने से दुःख का कारण है या नहीं करने से दुःख का कारण है ? (उत्तर) नहीं करने से वह दुःख का कारण है, करने से दुःख का कारण नहीं है। ऐसा कहना चाहिए।'

अकृत्य दुःख है, अस्पृश्य दुःख है और अक्रियमाण कृत दुःख है। उसे न करके प्राण, भूत, जीव और सत्व वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए।

श्री गौतम स्वामि पूछते हैं कि-भगवन् ! यह अन्य तीर्थिकों का मत क्या इस प्रकार ठीक है ?

उत्तर—गौतम ! यह अन्य तीर्थिक जो कहते हैं—'वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए' उन्होंने यह जो कहा है, वह मिथ्या कहा है। हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि जो चल रहा है वह 'चला' कहलाता है और यावत्-जो निर्जर रहा है, वह निर्जीर्ण कहलाता है।'

'दो परमाणु पुद्गल आपस में चौंट जाते हैं। दो परमाणु पुद्गल आपस में चौंट जाते हैं, इसका क्या कारण है ? दो परमाणु पुद्गलों में चिकनापन है, इसलिए दो परमाणु पुद्गल परस्पर चौंट जाते हैं। उन दो परमाणु पुद्गलों के दो भाग हो सकते हैं। अगर दो परमाणु पुद्-गलों के दो भाग किये जाएँ तो एक तरफ़ एक परमाणु और एक तरफ एक परमाणु होता है।

'तीन परमाणु पुद्गल परस्पर चौंट जाते हैं। तीन परमाणु पुद्गल परस्पर किस कारण चौंट जाते हैं। कि तीन

परमाणु पुद्गलों में चिकनापन है, इस कारण तीन परमाणु पुद्गल परस्पर चौंट जाते हैं। उन तीन परमाणु पुद्गलों के दो भाग भी हो सकते हैं। तीन भाग भी हो सकते हैं। दो भाग करने पर एक तरफ एक परमाणु और एक तरफ दो प्रदेश वाला एक स्कंध होता है। तीन भाग करने पर एक एक करके तीन परमाणु हो जाते हैं। इसी प्रकार यावत् चार परमाणु पुद्गल में समझना चाहिए।' परन्तु तीन परमाणु के डेढ़-डेढ़ नहीं हो सकते।

'पांच परमाणु पुद्गल परस्पर में चौंट जाते हैं और परस्पर चौंट कर एक स्कंध रूप बन जाते हैं। वह स्कंध अशाश्वत है और हमेशा उपचय पाता है तथा अपचय पाता है, अर्थात् वह बढ़ता भी है और घटता भी है।'

'पहले की भाषा अभाषा है। बोलते समय की भाषा, भाषा है और बोलने के बाद की भाषा भी अभाषा है।'

'वह जो पहले की भाषा अभाषा है, बोलते समय की भाषा, भाषा है और बोलने के बाद की भाषा अभाषा है, सो क्या बोलने वाले पुरुष की भाषा है या अनबोलते पुरुष की भाषा है? (उत्तर) वह बोलने वाले की भाषा है, वह अनबोलते पुरुष की भाषा नहीं है।'

(करने से) पहले की क्रिया दुःख का कारण नहीं है, उसे भाषा के समान ही समझना चाहिए, यावत्-वह क्रिया करने से दुःख का कारण है, न करने से दुःख का कारण नहीं है। ऐसा कहना चाहिए।'

'कृत्य दुःख है, स्पृश्य दुःख है, क्रियमाणकृत दुःख है। उसे कर-करके प्राण, भूत, जीव और सत्व वेदना भोगते हैं। ऐसा कहना चाहिए।

व्याख्यान—

भगवान् को वन्दना और नमस्कार करके गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन्! अन्यतीर्थी कहते हैं—'चलमाणे अचलिए।' उनका यह कथन क्या सत्य है?

गौतम स्वामी ने यह जो प्रश्न किया है, इसी प्रकार के कुल नौ प्रश्न हैं। उन्हों ने पहले भी 'चलमाणे चलिए' के विषय में प्रश्न किये थे। जो प्रश्न उन्होंने इस सूत्र के प्रारंभ में किये थे, वही इस शतक की समाप्ति और दसवें उद्देशक के आरंभ में क्यों किये हैं? इन प्रश्नों में ऐसा क्या महत्व है?

वही प्रश्न दूसरी बार किया गया हैं, यह सोच कर उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। वास्तव में इन नौ प्रश्नों में सारे जैनसिद्धान्त का समावेश हो जाता है। जैन धर्म प्रधानतः उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम पर अवलंबित है।

इन प्रश्नों में इन्हीं का वर्णन है। कई लोग कहते हैं-जैसे कर्म किये हैं, वैसे ही भोगने पड़ते हैं। लेकिन पुण्य और पाप बदल सकते हैं या नहीं? अगर बदल सकते हैं तो किस प्रकार? यह बात इन नौ प्रश्नों से मालूम हो जायगी। इन प्रश्नों में सारे संसारके सुधार का हिसाब बतलाया है।

गौतम स्वामी ने भगवान् से जो प्रश्न किया, वह प्रार्थना द्वारा ही किया। इस से हमें समझ लेना चाहिए कि हमें अगर कोई तत्त्व ग्रहण करना है तो प्रार्थना द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए हठ करने पर कोई तत्त्व या सिद्धान्त हृदयंगम नहीं किया जा सकता। अगर आप प्रार्थना द्वारा तत्त्व ग्रहण करना सीख जाएँगे और गौतम स्वामी की प्रश्न करने की रीति को ध्यान में लेंगे तो फिर आपको किसी और की खुशामद नहीं करनी पड़ेगी। आप स्वयं सब तत्त्वों के भली भाँति ज्ञाता बन सकते हैं।

शास्त्र की बात सुनने की अपेक्षा सुनाना कठिन है। सुनाने का काम भाड़े का-सा नहीं होना चाहिए, वरन् सुनाने वाला जो कुछ भी सुना रहा है, उसके पालन करने का उत्तरदायित्व उस पर आ ही जाता है। सुनने वाला, सुनाने वाले की बात का पालन करे या न करे, सुनाने वाले को तो अपनी बात का पालन करना ही चाहिए। मनोरंजन तो नाटक में क्या कम होता है? क्या उसमें ऐसा करुण रस नहीं झलकाया जाता कि जिसे देख

सुनकर रोना आने लगता है। क्या वीर रस के ऐसे दृश्य नहीं दिखाये जाते कि जिन्हें देखकर कायरों का खून भी गर्म हो उठता है? ऐसा होने पर भी साधु के उपदेश में और नाटक में क्या अन्तर है? यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

सूयगडांग सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में भगवान् ने कहा है—हे गौतम! मेरे वचन का उपदेश देने वाला कौन हो सकता है? मेरे वचन वही सुना सकता है जो इन्द्रियों को और मन को जीतने वाला हो, आत्मा को संवर में रखता हो और जिसने हिंसा के प्रवाह को काट दिया हो, जो सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य का पालन करता हो, जो अपरिग्रही हो–पास में एक कौड़ी भी न रखता हो और जो आस्रव रहित हो। जो ऐसा होगा वही भगवान् के वचन सुना सकता है। इन गुणों से युक्त पुरुष ही मेरे परिपूर्ण और अनुपम धर्म की व्याख्या कर सकेगा।

मतलब यह है कि आचारनिष्ठ त्यागी ही धर्म का उपदेश दे सकता है। अतएव धर्म का उपदेशक बनने के लिए सब से पहले त्याग की आवश्यकता है। त्याग का बड़ा महत्व है। चाहे स्त्री हो या पुरुष हो, जिसमें त्याग की शक्ति है, उसके सामने बड़ी से बड़ी शक्ति झुक जाती है। आज स्त्रियों में त्याग की यह शक्ति कम है। इसीसे यह कहा जाता है कि उस आदमी के भाग्य अच्छे हैं, जिसके यहां लड़की नहीं हुई।

त्यागी के वचनों में भी अलौकिक शक्ति होती है। आपका सद्भाग्य है कि आपको भगवान् महावीर जैसे अनुपम और आदर्श त्यागी महापुरुष के वचन सुनने का सुअवसर मिला है। इन्हें ध्यान से सुनिये। इससे आप का कल्याण होगा।

गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया—प्रभो! 'चलमाणे अचलिए' कहना क्या ठीक है? इस प्रकार भगवान से उन्होंने नौ प्रश्न किये। उनका विस्तार आगे किया जायगा। मगर पहले इस प्रश्न का निर्णय हो जाने से आगे के प्रश्नों का निर्णय करना सरल हो जाएगा।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—ऐसा कहने वाले मिथ्या कहते हैं। उन्हों ने तत्त्व का विचार नहीं किया है। उन्हें ज्ञान नहीं है।

भगवान् का यह उत्तर सुनकर गौतम स्वामी कहते हैं—ऐसा कहने वाले युक्ति भी देते हैं कि 'चलमाणे' वर्त्तमान है और 'चलिए' भूतकाल है। जो क्रिया वर्त्तमान में है, उसे भूतकालीन कैसे कहा जा सकता है?

'चलमाणे चलिए' का अर्थ क्या है, यह समझ लीजिए। एक आदमी यहां से बम्बई के लिए चला। वह अभी रेल में सवार भी नहीं हुआ है, फिर भी उसके लिये यही कहा जायगा कि वह बम्बई गया। व्यवहार में ऐसा ही कहा भी जाता है।

इस पर से यह कहा जा सकता है कि अभी वह बम्बई नहीं पहुंचा है, फिर भी उसके विषय 'बम्बई गया' कहा जाय तो यह कहना भूठ होगा। लेकिन यदि जैन सिद्धान्त इस प्रश्न का समाधान करने में समर्थ न होता तो भगवान् ऐसी प्ररूपणा कदापि न करते। भगवान् कहते हैं—'चलमाणे चलिए'। यानी जो काम होने लगा उसे 'हुआ' ऐसा कहना चाहिए। ठीक इसी प्रकार जैसे बम्बई न पहुंचने पर भी बम्बई जाने वाले के विषय में कहा जाता है—'वह बम्बई गया'।

इस प्रश्नोत्तर की विवेचना यद्यपि पहले हो चुकी है, तथापि उसे फिर दोहराने की आवश्यकता है, क्योंकि मूल सूत्र में भी उसे दोहराया गया है।

इस सिद्धान्त को समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। कोई भी कपड़ा एक ही तार से पूरा नहीं बनता। उसे बुनने के लिये अनेक तारों को डालने की आवश्यकता होती है। लेकिन जब कपड़ा बुनना आरंभ हुआ—उसमें कुछ तार डाले कि उसे 'बुना' कहा जा सकता है।

यही बात कर्मसिद्धान्त के विषय में समझनी चाहिये। कुछ कर्म अभी उदयावलिका में नहीं आये हैं, पर उदयावलिका में आने के लिये चलायमान हो गये हैं और सब कर्मों को उद-यावलिका में आने के लिये अभी असंख्यात समय लगेगा—तब

वे उदयावलिका में आएँगे। अभी कुछ ही कर्म उदयावलिका में आने के लिये चलित हुए हैं और अभी बहुत से चलने को शेष हैं, लेकिन पहले समय में जो कर्म चलने लगे, उन्हीं की अपेक्षा से कर्म को 'चला' कहा जा सकता है।

इस विषय में अनेक तर्क-वितर्क हो सकते हैं। जो लोग केवल चर्म-चक्षु से तत्त्व की पहचान करने वाले हैं, वास्तविकता को नहीं जानते, वह तो इसे असत्य भी कह दें तो कोई आश्चर्य नहीं। उनका एक मात्र तर्क यही है कि वर्त्तमान काल और भूतकाल एक कैसे हो सकते हैं?

जैन दर्शन की यह मान्यता है कि जहाँ समर्थ कारण है वहाँ कार्य की सिद्धि अवश्य है। अतएव अगर अविनाभावी और समर्थ कारण है तो कार्य हुआ ही समझना चाहिये।

जुलाहे ने कपड़ा बुनने के लिए अभी एक ही तार डाला है, मगर यह कपड़ा बुनने की क्रिया हुई या नहीं? यह क्रिया कार्य को सिद्ध करती है या नहीं? अगर इतनी क्रिया से कार्य की सिद्धि न मानी जाय तो वह क्रिया निष्फल हुई माननी पड़ेगी। लेकिन वास्तव में वह क्रिया निष्फल नहीं होती। उससे कार्य की सिद्धि अवश्य हुई है। एक तार को बुनना अगर निष्फल क्रिया हो तो दूसरा तार बुनना भी निरर्थक ही मानना होगा। इसी प्रकार तीसरे और चौथे तार को भी निष्फल न मानने का कोई कारण नहीं

रहेगा। और फिर अन्त में भी तो एक ही तार बुना जाता है, फिर उसे भी निरर्थक क्यों नहीं कहा जायगा ? पहले के सब तार अगर निरर्थक हुए तो अन्त का एक ही तार क्यों सार्थक है ? पहले तार से अन्तिम तार में ऐसी क्या विशेषता है कि सबको निरर्थक और उसे सार्थक कहा जाय ? अन्तिम तंतु से राग और पहले के तमाम तंतुओं से द्वेष होने के सिवाय और कोई भी खास विशेषता नहीं है।

एक एक बूंद से पूरा घड़ा नहीं भरा जा सकता, लेकिन भगवान् कहते हैं—घड़ा भरने के लिये घड़े में एक बूंद पड़ा कि उसे भरा हुआ मानों। कदाचित् यह कहा जाय कि अभी तो घड़ा खाली है। उसे भरा कैसे माना जाय ? मगर इस प्रकार तो वह अंतिम बूंद तक खाली रहेगा और यदि अंतिम बूंद से ही भरना मानते हो तो पहले के सब बूंद क्या निरर्थक हैं ? अगर पहले के बूंदों से घड़े का भरना नहीं मानते तो अंतिम बूंद से ही भरा हुआ क्यों मानते हो ? अंतिम बूंद ही ऐसी कौन-सी अलौकिक शक्ति है कि वह घड़े को भर देती है ? अतएव कार्य का आरंभ हुआ कि उसे 'हुआ' मानना उचित है। यही बात कर्म के विषय में भी है।

प्रश्न किया जा सकता है—आदमी अभी बंबई जाने के लिये निकला है। उसने बंबई की ओर कुछ ही कदम रक्खे हैं

और वह लौट भी सकता है। अनेक बार ऐसा होता है कि कहीं जाने को निकले परन्तु रास्ते में से ही वापस आ गये। ऐसी स्थिति में कुछ ही डग भरने से किसी को 'बंबई गया' कैसे कहा जा सकता है? अगर एक ही पैर रखने से किसी को 'बंबई गया' मान लिया जाय तो और आगे कदम रखने की क्या आवश्यकता है? बल्कि ऐसा उपदेश देने से तो लाभ के बदले हानि ही होगी। कार्य कभी पूरा ही नहीं होगा।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कोई आदमी जब बम्बई जाने के लिए निकला, तब उसका इरादा बम्बई जाने का ही था कि नहीं? और इरादा होने के साथ कार्य का आरंभ होना मानोगे या नहीं? न मानने पर तो सारी व्यवस्था भंग हो जाती है। फिर तो कोई यह भी नहीं कह सकता कि 'आप बम्बई जाते हो तो हमारा अमुक कार्य करते आना।' जब बम्बई जाने का इरादा होते ही कार्य का आरंभ होना मान लिया जाता है तो एक पैर रखने पर कार्य हुआ क्यों नहीं माना जायगा? अगर कोई बीच में से लौट आता है तो उसका इरादा बदला, परन्तु पहले तो इरादा था ही। बल्कि बम्बई पहुँचने से पहले-पहल अगर उसे 'गया' न माना जाय तो फिर 'रास्ते में से लौटा' ऐसा व्यवहार कैसे हो सकता है? जो 'गया' नहीं उसे 'लौटा' कैसे कहा जा सकता है? जब उसे रास्ते में से लौटा कहते हैं तो 'गया' भी कहना ही चाहिए। जब उसका इरादा बदल जायगा तब वह

लौट कर घर की ओर एक कदम बढ़ाएगा। कि 'घर गया' कहलाएगा। लेकिन इरादा होते ही कार्य का प्रारंभ मान लिया जायगा। और कार्य का प्रारंभ होने के साथ ही कार्य हुआ भी माना जायगा। ऐसा मानने पर ही किसी कार्य के लिए की जाने वाली सब क्रियाएँ सार्थक हो सकती हैं।

उदाहरणार्थ—सरसों के एक दाने में भी तेल रहता है। अगर एक दाने में तेल न माना जायगा तो बहुत से दानों में भी कैसे माना जा सकता है? लेकिन एक दाने में तेल है, इसलिए कोई आदमी एक दाना लेकर ही उससे चिराग जलाने का काम लेना चाहे तो कैसे हो सकता है? चिराग जलाने का काम तो तभी होगा जब बहुत-से दानों का तेल निकाला जायगा। मान लीजिए, तेल निकालने के लिए उसे घानी में डाला। उस एक दाने से घानी भर नहीं गई, फिर भी यदि उस एक दाने के पड़ने से घानी भरी, ऐसा न मानोगे तो बहुत दाने डालने पर भी घानी भरी हुई नहीं मानी जायगी, बल्कि अंतिम एक दाने से ही भरी हुई माननी पड़ेगी। लेकिन जब और तमाम दानों का डालना निरर्थक हुआ तो उस एक दाने का ही डालना सार्थक कैसे कहा जा सकता है? अगर पहले के तमाम दानों से घानी नहीं भरी तो अंतिम एक दाने से कैसे भरी? उस अंतिम दाने में अन्य दानों की अपेक्षा क्या विशेषता थी? दाने तो सभी एक-से हैं। प्रथम और अन्तिम होना तो सिर्फ संयोग की ही बात है।

इस प्रश्नोत्तर का आशय यह है कि कार्य आरंभ हुआ कि वह सिद्ध हुआ ही समझो। किसी जीव का पहला गुणस्थान छूटा और दूसरा गुणस्थान प्राप्त हुआ कि उसे सिद्ध हुआ समझो। भगवान् कहते हैं—वह मोक्ष गया हुआ ही है। अर्थात् उसने अब तक जो क्रिया की है, वह निष्फल नहीं हुई। वह मोक्ष के लेखे में लगी है। भगवान् के इस सिद्धान्त को दृष्टि में रख कर सदा आगे ही बढ़ते रहना, पीछे नहीं हटना! फारसी की एक कहावत है—

मर्दी और नामर्दी कदमे फासला दारद।

अर्थात्—जो एक भी कदम आगे है वह मर्द माना जाता है और जो एक भी क़दम पीछे है, वह नामर्द समझा जाता है। इस बात को दृष्टि में रखकर एक भी कदम आगे बढ़ोगे तो मुक्ति सिद्ध होगी। एक का कथन है कि जो पैसे का नाश करेगा, वह रुपये का भी नाश करेगा। जो पैसा गँवाता है वह रुपया भी गँवाएगा और फिर दिवाला भी निकाल देगा।

कई मुनि कहने लगते हैं—'अमुक छोटी-सी बात में क्या धरा है?' लेकिन भगवान् ने कहा है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो, पावकम्मं न बन्धई।
अजयं चरमाणो य, पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं,

जैसे पैसे को नष्ट करने वाला गृहस्थ रुपये को भी नष्ट कर डालता है, इसी प्रकार ईर्या का ध्यान न रखने वाला साधु भाषा का भी ध्यान न रक्खेगा और फिर वह संयम का ही नाश कर डालेगा। इस लिये भगवान् ने साधुओं से कहा है—सावधान रहो। सावधानी रखने पर और ईर्या समिति से चलने पर भी यदि जीव मर जायगा तो प्रमादरूपी पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा। इससे विपरीत ईर्या समिति से न चलने की अवस्था में चाहे कोई जीव न मरे तब भी पाप कर्म का बन्ध होगा। जो ईर्या—भाषा का ध्यान रखता है, उसका संयम भी निर्मल रहता है और वह अठारहों पापों से बचा रह सकता है। अतएव यह समझ कर असावधान मत होओ कि मैंने अठारह पाप त्याग दिये हैं। जहाँ प्रमाद का योग है वहाँ हिंसा है, जहाँ हिंसा है, वहाँ अन्य पाप कर्म का बन्ध है।

गृहस्थ लोग भी 'यह तो साधारण-सी बात है। इस में क्या पाप-दोष है!' ऐसा कह कर धर्म के विषय में शिथिल होते जाते हैं। धर्म के विषय में थोड़ी-सी शिथिलता भी महान् अर्थ-कारिणी होती है। जैसे यह सोचना कि स्वयं बना कर रोटी खाएँ तो क्या और सीधी होटल में बनी हुई खाएँ तो क्या? इसी प्रकार कपड़ा बना कर पहने तो क्या और मिल का पहने तो क्या? खद्दर पहने तो क्या और विलायती पहनें तो क्या!

ऐसी बातों को आप छोटी समझ कर उनकी ओर उपेक्षा करते हैं किन्तु इससे परम्परा में महान् अनर्थ उत्पन्न होते हैं।

जैन धर्म अनेकान्तवादी है। अतएव कभी और कहीं सीधा खाना भी ठीक होता है और कभी तथा किसी अवस्था में सीधा लेना और खाना भी महापाप का कारण होता है। मगर लोगों ने तो एक बात पकड़ रक्खी है कि सीधा पहनने-खाने में पाप नहीं होता है और बनाकर खाने-पहनने में पाप होता है। या सीधा पहनने-खाने में कम पाप होता है और बनाकर खाने पहनने में अधिक पाप होता है। इस प्रकार सीधे खाने-पहनने के धोखे में आने से अनेक प्रकार की हानियां होती हैं और हुई हैं। अतएव सीधे के धोखे में मत रहो। आज मैं इस विषय पर कुछ कहता हूँ तो लोग टीका करते हैं, लेकिन पहले के महापुरुष क्या मेरी ही तरह नहीं कहते थे? पहले तो मोरस शक्कर और बनारसी शक्कर का प्रश्न ही नहीं था। लेकिन पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज क्या यह उपदेश नहीं देते थे कि मोरस शक्कर छोड़ो। अगर तुम नहीं छोड़ सकते तो कम से कम साधुओं को तो भ्रष्ट मत करो। ऐसा कहकर वे क्या सुपात्रदान का निषेध करते थे? उन्होंने सुपात्रदान का निषेध नहीं किया किन्तु अशुद्ध वस्तु के दान का निषेध किया था।

लोग यह नहीं समझते कि हमारी असावधानी से धर्म किस प्रकार नष्ट होता है। प्रत्येक वस्तु में विवेक रखना श्रावक

का धर्म है। इस विवेक को मत भूलो। जो वस्तु सामने बनती है, उसके विषय में तो आप देखकर भी जानकारी कर सकते हो, लेकिन छानबीन की जरूरत तो विशेषतः उसी वस्तु के लिए है जो आपके सामने नहीं बनती है। अपितु सीधी आती है। सामने ढलने वाले रुपये की परख की आवश्यकता नहीं रहती। मगर सीधे आने वाले रुपये को बिना परखे कौन बुद्धिमान् लेता है? अगर उसे परख कर ही लेते हो तो यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि यह वस्तु तो सीधी ली है, यह कैसे भी बनी हो। इससे हमें क्या मतलब! जो पाप करता है उसी को लगता है। हम तो सीधी बनी-बनाई लेते हैं। इस धोखे में न रहो। किन्तु सीधी आई वस्तु को भी जांच लो कि यह कैसे बनी है? यही श्रावक का कर्त्तव्य है, धर्म है।

कई लोग प्रत्यक्ष आरंभ को ही देखते हैं, लेकिन आरंभ देख कर सीधा खाने, पहनने और स्वयं काम न करने से कितनी हानि होती है और परम्परा से उसका परिणाम क्या होता है, इस बात का विचार नहीं करते। उदाहरणार्थ—एक आदमी घर की चक्की का पिसा आटा खाता है और दूसरा गिरनी का पिसा सीधा आटा बाजार से ले आता है और उसे खाता है। अब विचार कीजिए कि किस प्रकार का आटा खाने में ज्यादा पाप है? सीधा लाने-खाने के समर्थक तो कह देंगे कि घर में, चक्की

में पिसा आटा खाने से ज्यादा पाप होता है और गिरनी में पिसा आटा सीधा ले आने में और खाने में कम पाप होता है। क्योंकि घर में पीसने के लिए आरंभ करना पड़ता है और बाजारू आटा सीधा मिल जाता है। इस प्रकार लोग आलस्य में पड़ रहे हैं, लेकिन वास्तव में धर्म आलस्य में नहीं है। कदाचित् कोई काम स्वयं न कर सको तब भी अपराध को अपराध तो मानो। अपराध को छिपाने के लिए सिद्धान्त को ही उलटने का प्रयत्न करना तो उचित नहीं कहा जा सकता।

गिरनी के आटे से इतनी हानि हुई और ऐसी खराबी हुई है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। मैं गिरनी के आटे का निषेध करता हूँ। इसे लेकर कुछ लोग मेरी निन्दा करते हैं। लेकिन इसके निषेध के लिए तो पहले के स्तवन बने हुए हैं। घाटकोपर में मैं गिरनी के आटे का निषेध करता था। उस समय एक भाई ने मुझसे कहा—आप जो कुछ कहते हैं, सर्वथा सत्य है। एक दिन मैं गिरनी में आटा पिसवाने के लिये गया था। वहां मैंने एक मछली बेचने वाली को देखा। मैंने उससे पूछा—तुम यहां किस लिए आई हो? उसने उत्तर दिया—मैं भी आटा पिसवाने आई हूँ। वह जिस टोकरे में मछलियां बेचती है, उसी टोकरे में अनाज लिया और पिसवाने के लिये ले आई। अब पहले उसका अनाज और फिर मेरा अनाज पीसा जाय तो मछली वाले

टोकरे के अनाज का कुछ अंश मेरे आटे में आना स्वाभाविक है। यह देखकर मुझे विश्वास है कि आप जो कुछ इस विषय में कहते हैं, वह सत्य ही है।

अब आप विचार करें कि ऐसे पापमय आजीविका करने वाले लोगों के अनाज का और वे जिन चीजों से संसर्ग रखते हैं, उन चीजों का संस्कार गिरनी में आटा पिसवाने पर आपके अनाज में आता होगा या नहीं ? और उसका कुछ प्रभाव होता होगा या नहीं ? मगर सीधी चीज के शौकीन इस बात का विचार नहीं करते। गिरनी में पिसवाने से अनाज का सत्व जल जाता है, यह बात तो अलग है ही। गिरनी में से जो आटा निकलता है, वह जलता हुआ निकलता है। पहले स्त्रियाँ कहा करती थीं और अब भी बहुत सी कहती हैं कि डाकिन की नजर लग जाती है। यह तो उनके मन का वहम ही हो सकता है, लेकिन गिरनी तो सचमुच डाकिन है जो अनाज का सत्व ही खींच लेती है और जिसके काबू में आने पर आटा भी जलने लगता है।

गिरनी के आटे से रोग भी होते हैं। अनेक डाक्टर गिरनी के आटे को हानिप्रद बतलाते हैं, इस सब के ऊपर इस बात का भी विचार करना चाहिए कि गिरनी के आटे के लिए कितना अधिक आरम्भ होता है। उसमें आग और पानी का महा-आरम्भ होता है। आप भगवान् के 'चलमाणे चलिए' सिद्धान्त को

मत भूलो और याद रक्खो कि जो भी क्रिया की जाती है वह निरर्थक नहीं जाती।

अब दूसरा प्रश्न 'उदीरिज्जमाणे उदीरिए' का है। जब किसी मकान का पाया खिसक जाता है तब उस पर टिका हुआ मकान भी खिसक जाता है। इसी प्रकार जब 'चलमाणे चालिए' की जगह 'चलमाणे अचलिए कहा तो 'उदीरीज्जमाणे अणुदीरिए' कहना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य प्रश्नों के विषय में भी ऐसा ही उलटा कहना होगा। लेकिन भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा—अन्यतीर्थी मिथ्या कहते हैं।

यहां दूसरे प्रश्न की व्याख्या करने से पहले यह देख लेना उपयोगी होगा कि उदीरणा किसे कहते हैं ? उदीरणा शब्द पारिभाषिक है। इसका अर्थ है—जो कर्म बहुत समय बाद उदय में आने वाले हैं, उन्हें थोड़े ही समय में आकर्षण द्वारा उदय में ले आना। अर्थात् जो कर्म बहुत समयों में उदय में आ सकते हैं, उन्हें अल्प समय में ही उदय में ले आना और विपाक में ही भस्म कर देना उदीरणा है।

'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।' अर्थात् किये कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, इस सिद्धान्त से उदीरणा के सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। इस सिद्धान्त का विवेचन पहले किया जा चुका है। कर्म की उदीरणा न मानी जाय तो

धर्मक्रिया का कोई महत्व ही नहीं रहेगा। साथ ही किये कर्म को उसी रूप में भोगना ही पड़ता हो तो जीव को हिंसा, झूठ आदि का पाप भी नहीं लगना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने से जीव स्वतंत्र तो रहेगा नहीं—वह एकान्ततः कर्माधीन हो जायगा। अतएव वह जो भी कुछ करता है, वह पूर्वोपार्जित कर्म के प्रभाव से ही करता है। इसलिए उसे पाप नहीं लगना चाहिए। इसी प्रकार से राजनीति और धर्मनीति का दंड भी व्यर्थ होगा। किसी को किसी अपराध का दंड नहीं मिलना चाहिए। इस तरह उद्योग वाद सिद्ध नहीं होगा। इसी कारण शास्त्र में कहा है कि उदीरणा द्वारा कर्म थोड़े ही समय में उदय में लाया जा सकता है। ऐसा मानने से उद्योग वाद की सिद्धि होती है। अलबत्ता, ऐसा करने के लिए विशिष्ट अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। क्यों कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

मन ही बंध और मोक्ष का प्रधान कारण है। और मन से ही विशिष्ट अध्यवसाय होते हैं। वचन और काय तो मन के गुलाम हैं। यों सच्चा स्वामी तो आत्मा है, परन्तु आत्मा का निकट सम्बन्ध मन से है और फिर शरीर से है। अतएव पाप पुण्य का प्रधान कारण मन ही है।

प्रश्न किया जा सकता है कि त्याग के ४९ भांगे हैं। उनमें 'काय से नहीं करूँगा' यह भी त्याग का एक भंग है। अगर मन

के बिना कोई काम न हो सकता हो तो फिर काय से करने का त्याग किस काम का ठहरेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'काय से पाप नहीं करूँगा' इस प्रकार का त्याग कौन करता है? कौन यह कहता है कि काय से पाप नहीं करूँगा? वास्तव में यह संकल्प मन ही करता है। फिर मन को भूलकर केवल काय को ही क्यों पकड़ बैठते हो? लोग इस भ्रम में हैं कि हमने काय से त्याग दिया सो बस, पाप से मुक्त हो गये—अब हमें पाप नहीं लगेगा। लेकिन इस प्रकार की हठ बुद्धि तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति में बाधक होती है। अतएव हठ मत पकड़ो, किन्तु तत्त्व को समझो और बुद्धि को विकसित होने का अवसर दो। ऐसा करने पर कभी न कभी ज्ञान भी होगा।

मन अपनी प्रवृति तीन प्रकार से करता है—स्वयं करते रूप, कराते रूप और अनुमोदन करते रूप। काय से करने का त्याग होने पर उस तरफ की मन की प्रवृत्ति रूक जाती है, लेकिन कराने और अनुमोदन करने की प्रवृत्ति नहीं रूकती। अगर कराने और अनुमोदन करने की प्रवृत्ति भी रूक जाती हो तो करने, कराने और अनुमोदन करने की--तीनों ही का त्याग होगा। अतएव यह ठीक है कि त्याग के ४९ भंग बतलाये हैं, लेकिन मन का उनके साथ क्या सम्बन्ध है, इस बात का विचार करना आवश्यक है। भगवान् ने ज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया की

ही प्रशंसा की है। अज्ञानपूर्वक होने वाली क्रिया की प्रशंसा नहीं की है।

तात्पर्य यह है कि मन के बुरे अध्यवसाय से ही कर्म-बंध होता है। यदि मन की प्रवृत्ति अर्थात् मन के बुरे अध्यवसाय बदलते न हों तो सदा अशुभ कर्म का ही बंध होगा। कभी शुभ कर्म बंधेंगे नहीं। लेकिन मन की प्रवृत्ति कभी शुभ होती है, कभी अशुभ होती है। जब शुभ होती है तब शुभ कर्म का बंध होता है और जब अशुभ होती है तब अशुभ कर्म का बंध होता है। इस प्रकार मन जब अपने अध्यवसाय को बदलता है, अच्छे और विशिष्ट अध्यवसाय करता है, तब वह अशुभ कर्म को भी बदल देता है तथा पहले बांधे हुए अशुभ कर्मों को आकर्षण द्वारा उदयावलिका में लाकर प्रदेश में ही भोग लेता है।

शास्त्र का यह कथन ठीक ही है कि बिना भोगे कर्म नहीं छूटते। वास्तव में बांधे हुए कर्म भोगने पड़ते ही हैं, लेकिन कर्म दो तरह से भोगे जाते हैं—विपाक से और प्रदेश से। जो कर्म विपाक से भोगे जाते हैं उनकी वेदना तो मालूम होती है, लेकिन प्रदेश से भोगे जाने कर्म की वेदना प्रत्यक्ष मालूम नहीं होती। मगर वेदना प्रत्यक्ष मालूम न होने पर भी वह वेदे अवश्य जाते हैं और इस प्रकार शास्त्र का यह कथन सत्य ही है कि किये हुए कर्म भोगे बिना नहीं छूटते।

बहुत समय में भोगे जाने वाले कर्म को तप आदि अनुष्ठान से थोड़े ही समय में उदय-आवलिका में खींचकर ले आने को ही उदीरणा कहते हैं। वेदना तो इसमें भी होती है, लेकिन वह उसी प्रकार मालूम नहीं होती, जिस प्रकार क्लोरोफार्म सुँघाकर आपरेशन करने से वेदना प्रत्यक्ष मालूम नहीं होती। कई लोग समझते हैं कि क्लोरोफार्म सुँघाकर ऑपरेशन करने से वेदना नहीं होती, मगर यह ख़याल ठीक नहीं है। वेदना तो उस समय भी होती है। इसी प्रकार ज्ञानियों का कथन है कि विपाक से वेदना न होने पर भी प्रदेश से वेदना होती है। किसी को ज्यादा और असह्य आघात लगता है तब वह मूर्छित हो जाता है। मूर्छित होने पर वेदना नहीं हुई, यह बात नहीं है। उस समय अधिक वेदना होती है, मगर वह विपाक रूप में नहीं दीखती, किन्तु प्रदेश रूप से होती है। इसी प्रकार किये हुए जो कर्म विपाक से नहीं भोगे जाते, वे भी प्रदेश से भोगे जाते हैं और उनकी वेदना विपाक से नहीं दीखती, फिर भी वह प्रदेश से तो है ही। उस प्रदेश-वेदना को हम लोग नहीं जानते, मगर ज्ञानी जानते हैं। किस प्रकार वेदना हो रही है, इस बात को वे भलीभाँति देखते हैं। आप नहीं देखते, इस कारण वेदना नहीं हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कई बातें ऐसी होती हैं जिन्हें आप जानते हुए भी नहीं देख सकते। जैसे-आप जो दूध पीते हैं, उसका

रस-भाग शरीर में रह जाता है और मलभाग बाहर निकल जाता है। जो रसभाग शरीर में रहा वह रक्त-मांस आदि के रूपमें परिणत होता है। उसका परिणमन किस प्रकार होता है, यह आप नहीं देखते, लेकिन जानते हैं कि परिणमन होता है। आपने जो दूध पिया, वह सफेद था। पर उसके रसभाग से जो रक्त बना वह लाल हुआ और जो-जो कुछ बना वह भिन्न-भिन्न रंग का हुआ। उसका इस प्रकार होना तो आप जानते हैं, लेकिन किस तरह हुआ, यह आप नहीं देखते। भले ही आप इसे न जानें, मगर ज्ञानी तो सभी कुछ जानते-देखते हैं कि किस प्रकार क्या हो रहा है। इसी प्रकार किये हुए कर्म का फल प्रदेश में किस तरह भोगा, इस बात को हम लोग नहीं जानते, लेकिन ज्ञानी तो जानते ही हैं। ज्ञानी पुरुषों से कोई बात छिपी हुई नहीं है। हम मन के अध्यवसाय से किस प्रकार कर्म बांधते हैं और उन्हें किस प्रकार भोगते हैं, यह सब ज्ञानी जानते हैं, यह समझ कर पाप से सदा डरना चाहिए और कभी कोई पाप हो जाय तो उसके लिए अन्तःकरण से 'मिच्छामि दुक्कडं' देकर पश्चात्ताप करना चाहिए। ऐसा करने से पाप का नाश होता है और आत्मा पवित्र बनता है।

वैद्य के द्वारा दी हुई दवा पेट में पहुँच कर किस तरह रोग मिटाती है, यह आप नहीं देखते फिर भी वैद्य पर विश्वास करके

उसकी दवा लेते हैं और उससे लाभ भी पहुंचता है। इसी प्रकार भगवान् महावैद्य ने हम लोगों का भव-रोग मिटाने के लिये जो दवा बतलाई है, उस पर भी विश्वास करके उसे ग्रहण करो तो आपका भव-रोग नष्ट होगा। उसमें अपनी बुद्धि लड़ाने से ही काम नहीं चलेगा। विश्वास करो। बिना विश्वास किये वैद्य की दवा भी काम नहीं करती तो भगवान् की दवा कैसे काम करेगी? अतएव भगवान् ने जो कुछ कहा है, उस पर विश्वास करके उसे धारण करो।

मतलब यह है कि कर्म को उसकी नियत अवधि से पूर्व ही खींच लाने को उदीरणा कहते हैं। अगर उदीरणा तत्त्व न माना जायगा तो मुक्ति भी नहीं हो सकती? क्योंकि पुराने कर्म उदय में आते जाएँगे और नये कर्म बँधते जाएँगे। इस प्रकार कर्म की शृंखला टूटना कठिन हो जायगा। और जब तक कर्म की शृंखला नहीं टूटती तब तक मुक्ति होना असंभव है। इसलिए किस गुण स्थान में कैसे कर्म नष्ट किये जा सकते हैं, इस बात को समझ कर यह मानो कि बहुत समय में भोगे जा सकने वाले कर्म प्रदेश में लाये जाकर मन के विशिष्ट अध्यवसाय द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं और ऐसा करना अपने हाथ में है।

कई लोग कहते हैं—जितना आयुष्य लाये हैं, उतना ही भोगेंगे—उसमें न्यूनता या अधिकता कैसे हो सकती है? लेकिन

आयुष्य भी कर्म है या नहीं और उसकी भी उदीरणा हो सकती है या नहीं इस बात पर विचार करो।

यह बात ठीक है कि आयुष्य जितना बाँधा है, उतना भोगना ही होता है, लेकिन जैसे बहुत काल में भोगे जा सकने वाले कर्म उदीरणा द्वारा थोड़े ही समय में उदय में लाये जा सकते हैं, उसी तरह बहुत समय तक भोगा जा सकने वाला आयुष्य थोड़े समय में भी भोगा जा सकता है। ग्रंथों में यहां तक कहा है कि करोड़ पूर्व का आयुष्य भी अन्तर्मुहूर्त्त में भोगा जा सकता है। अगर जितने समय का आयुष्य बाँधा है, उससे कम न हो तो फिर करोड़ पूर्व का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त में कैसे भोगा जा सकता है?

प्रश्न हो सकता है—भुज्यमान आयु के अन्तिम तीसरे भाग में आगे का आयुष्य बंधता है। अगर किसी का आयुष्य ९९ वर्ष का बंधा हुआ है तो छयासठ (६६) वर्ष के बाद नये आयुष्य का बंध होगा। इस प्रकार करोड़ पूर्व का दो भाग आयुष्य भोगना तो आवश्यक ठहरा। मगर यहां है कि करोड़ पूर्व का आयुष्य भी अन्तर्मुहूर्त्त में भोगा जा सकता है। यह कैसे ठीक हो सकता है? तीसरे भाग में आयुष्य बंधता है, इसलिए निन्यानवे वर्षों में से छयासट वर्ष तक तो जीवित रहना ही होगा, क्योंकि नया आयुष्य बँधे बिना मृत्यु नहीं होती, आगे

भले ही गड़बड़ हो जाय। इसी प्रकार करोड़ पूर्व की आयु हो तो भी दो तिहाई जीवित रहना अनिवार्य है। ऐसी दशा में अन्तर्मुहूर्त्त में आयु कैसे भोगा जा सकता है।

इसका उत्तर यह है कि—शास्त्र में यह तो कहा नहीं है कि बँधे हुए आयुष्य के तीसरे भाग में नवीन आयु का बँध होता है या संकुचित आयु के तीसरे भाग में? इसलिए यह क्यों नहीं माना जा सकता कि आयु का उपक्रम होने पर संकुचित आयु के तीसरे भाग में नवीन आयु का बँध होता है। यही मानना उचित भी है।

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि अगर बँधा हुआ आयुष्य भी उपक्रम से क्षीण हो सकता है तो कृत का नाश और अकृत का आगमन होगा। अर्थात् किये कर्म का फल नहीं मिला यह कृतनाश हुआ और नहीं किये कर्म का फल भोगना पड़ा यह अकृत का आगमन हुआ। ऐसा मानने पर तो किये हुए सुकृत का भी नाश हो जायगा। लेकिन शास्त्र कहते हैं कि ऐसा नहीं है। आयुष्य कर्म का उपक्रम किस प्रकार होता है, इस बात को समझाने के लिये एक उदाहरण दिया जाता है। एक लम्बी रस्सी अगर एक सिरे से जलाई जाय तो उसके जलने में बहुत समय लगेगा। लेकिन उसी रस्सी को अगर गोलमोल करके जलाया जाय तो जल्दी ही जल जायगी। दोनों तरह से रस्सी

जलती है, लेकिन एक तरह से देर में और दूसरी तरह से जल्दी जलती है। यही बात आयुकर्म के संबंध में समझना चाहिए। एक तो क्रम से आयुकर्म भोगा जाता है और एक उपक्रम से भोगा जाता है। जो उपक्रम से भोगा जाता है, वह उदीरणा द्वारा जल्दी ही भोग लिया जाता है।

इस संबंध में दीपक के तेल का उदाहरण पहले दिया जा चुका है और इस विषय का विवेचन भी किया जा चुका है। उसे फिर दुहराना अनावश्यक है।

तीसरा प्रश्न 'वेइज्जमाणे वेइए' है। इस विषय में अन्य दर्शन वालों का कथन यह है कि जो कर्म वेदन किये जा रहे हैं, वह सब अभी वेदन नहीं किये गये हैं। उनके वेदन होने में अभी बहुत समय बाकी है। अतएव वेदे जाने वाले कर्मों को वेदे नहीं कहना चाहिए, बल्कि नहीं वेदे कहना चाहिए।

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! क्या अन्यतीर्थिकों का यह कहना सत्य है ? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—ऐसा कहने वाले मिथ्या कहते हैं। जिन कर्मों का वेदन होने लगा, उन्हें 'वेदे' कहना चाहिए।

इस चर्चा पर प्रकाश डालने से पहले यह देख लेना चाहिये कि वेदन करने का अर्थ क्या है ? इस विषय में टीका-

कार कहते हैं—कर्म के भोग को वेदना कहते हैं। कर्म का भोगना प्रदेश या विपाक से होता है। जब कर्म का अबाधा काल समाप्त हो जाता है तब कर्म फल देने लगते हैं। कर्म का फल देना ही कर्म की वेदना है।

कर्म बंधते ही फल नहीं देने लगते। वे एक नियत समय पर ही फल दिया करते हैं। भंग पीते ही नशा नहीं चढ़ जाता, मगर एक अवधि पर ही नशा चढ़ता है। इसी प्रकार कर्म भी अपनी अवधि आने पर अपना असर दिखलाते हैं। जब तक अवधि नहीं आती, तब तक कर्म अव्यक्त रहते हैं अर्थात् सत्ता में पड़े रहते हैं। जैसे बचपन में खाई हुई कोई-कोई दवाई जवानी या बुढ़ापे में फल देती है। वह दवा तब तक कहां पड़ी रहती है? दवा खाने के बाद उल्टी भी हुई होगी और दस्त तो प्रायः प्रतिदिन होता ही है। फिर भी दवा का असर नहीं जाता। बहुत दिनों तक दवा के पुद्गल अव्यक्त रहकर आखिर अवधि आने पर उदय में आते हैं और जब उदय में आते हैं, तब व्यक्त होते हैं। इसी प्रकार कर्मपुद्गल अवधि आने से पहले तक तो अव्यक्त रहते हैं, लेकिन अवधि आते ही उदय में आकर व्यक्त हो जाते हैं। जब तक अव्यक्त रहते हैं तब तक कर्म मालूम नहीं होते। जब उदय में आते हैं तब उनकी वेदना होती है और वह मालूम होते हैं।

उदय में आये कर्म की वेदना असंख्यात समयों में समाप्त होती है। असंख्य समयों का पेटा बहुत बड़ा है, फिर भी पहले समय में जिन कर्मों की वेदना होने लगी, उनकी अपेक्षा उन्हें 'वेदे' कहना चाहिये।

अन्यतीर्थी समझते हैं कि वर्त्तमान काल को भूत काल में ले जाया जा रहा है और ऐसा हो नहीं सकता। इसी कारण वह कहते हैं कि कर्म के वेदन करते समय सब कर्म वेदे नहीं गये हैं, इसलिए उन्हें 'नहीं वेदे' कहना चाहिए। लेकिन उनका यह कथन ठीक नहीं है। कर्म पहले समय में जब वेदे जाने लगे कि उन्हें 'वेदे' मानना चाहिये। ऐसा न मानने पर तब तक की वेदना निरर्थक हो जायगी और कर्म अन्त तक नहीं 'वेदे' ही रहेंगे।

गौतम स्वामी का चौथा प्रश्न है—पहिज्जमाणे पहीणे? जीव-प्रदेशों से कर्मों का पतित होना 'पहीण' या प्रहीन होना कहलाता है।

प्रश्न हो सकता है कि इसे निर्जरा में ही सम्मिलित क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का समाधान आगे किया जायगा। यहां सिर्फ यही समझ लेने की आवश्यकता है कि आत्मा के प्रदेशों से कर्मों का गिर जाना 'पहीण' होता है। जैसे-किसी ने अपने शरीर पर चन्दन का या किसी अशुचि पदार्थ का लेप किया

और फिर शरीर को हिला कर उसे गिरा दिया। इसी प्रकार कर्मों के अशुभ या अशुभ पुद्गलों को आत्मप्रदेश से गिराने का नाम 'पहीण' करना है।

पाँचवाँ प्रश्न है-'छिज्जमाणे छिन्ने ?' जो कर्म बहुत समय में छिदने वाले हैं उन्हें अपवर्त्तना करण द्वारा थोड़े ही काल में छेद डालना छिन्न करना कहलाता है। कर्म के विषय में ऐसी बात नहीं है कि जिस तरह बांधे हैं उसी तरह भोगने पड़ेंगे। किन्तु प्रयत्न विशेष से उन्हें थोड़े-ही काल में छेदा जा सकता है। जैसे बहुत दिनों में मिटने वाला रोग दवा से थोड़े ही दिनों में मिट जाता है, इसी तरह कोड़ा-कोड़ी सागरोपम के कर्म भी अन्तर्मुहूर्त्त में छेदे जा सकते है। कर्म जिस तरह बांधे हैं, उसी तरह भोगने पड़ते होंगे तो भगवान् यह कथन क्यों करते ?

कर्म को छेदने में असंख्यात समय लहते हैं। लेकिन प्रथम समय में जो कर्म छिदने लगे उनकी अपेक्षा से उन्हें 'छिदे' कहना चाहिए। अन्यतीर्थी कहते हैं जो कर्म छिदने लगे है, वे सब जब तक नहीं छिद गये, तबतक उन्हें अछिन्न ही कहना चाहिये। किन्तु भगवान् कहते हैं—ऐसा नहीं है। जो कर्म छिदने लगे उन्हें छिन्न कहना चाहिए।

छटा प्रश्न है—'भिज्जमाणे भिन्ने ?' छेदन और भेदन में क्या अन्तर है ? इसके उत्तर में टीकाकार कहते हैं-वस्तु तो

वैसी ही कायम रहे, फिर भी उसके असर में परिवर्तन कर देना भेदन करना कहलाता है। जैसे दीवाल में खूँटी ठोकने पर भी दीवाल तो ज्यों की त्यों बनी रहती है, गिरती नहीं है, फिर भी वह भिद जाती है। दूध में छाछ डालने से दूध तो कायम रहा, लेकिन वह फट गया। इस प्रकार वस्तु कायम रहने पर भी उसमें अदला बदली हो जाने को भेदन होना कहलाता है। इसी तरह कर्म तो वही रहते हैं, फिर भी अपवर्तना करण के द्वारा तीव्र रस के कर्म को मन्दरस वाले बना देना भेदन कहलाता है।

तीव्र रस वाले कर्म मंद रस वाले किस प्रकार हो जाते हैं, यह समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। नीम का रस कटुक होता है। लेकिन पाव भर रस में दो सेर पानी मिला देने से उसकी कटुकता कम हो जाती है। पानी मिला देने पर वह रस उतना कटुक नहीं लगता, जितना पानी मिलाने से पहले लगता था। इसी प्रकार पाव भर शक्कर के रस में चार सेर पानी मिला दिया जाय तो शक्कर की मिठास वैसी न रहेगी, जैसी पहले थी। इसी प्रकार अपवर्त्तना या उद्वर्त्तना करण के द्वारा कर्म रस को मंद या तीव्र करना कर्म को भेदन करना कहलाता है। इस प्रकार तीव्र रस वाले कर्म को मंद रस वाला और मंद रस वाले कर्म को तीव्र रस वाला बनाया जा सकता है। अतएव यह विचार कर घबराने

की आवश्यकता नहीं कि कर्म तो बांध लिये हैं सो उसी प्रकार भोगने ही पड़ेंगे। कर्म को बदला जा सकता है।

कर्म का भेदन करने में असंख्यात समय लगते हैं। फिर भी जब प्रथम समय में वह भिदने लगे तो उन्हें भिदे कहना चाहिए। अन्यतीर्थी उन्हें 'नहीं भिदे' कहते हैं सो मिथ्या है। इन सब प्रश्नों में 'चलमाणे चलिए' के समान ही चर्चा समझनी चाहिए।

सातवां प्रश्न 'डज्झमाणे दड्ढे ?' है। जैसे किसी लकड़ी से खंभे का काम लिया जाय तो वह खंभे का काम देगी, लेकिन उसे अगर जला दिया जाय तो जलकर राख हो जायगी। इसी प्रकार कर्म को अगर भस्म करना चाहो तो भस्म भी कर सकते हो।

भेदन होने पर कर्म का अस्तित्व बना रहता है, लेकिन दग्ध करने में कर्म का अस्तित्व ही नहीं रह जाता—वह भस्म हो जाता है। कार्माण शरीर में जो कर्म बांधे थे, वे भेदन करने पर तीव्र या मंद रस देते थे, लेकिन भस्म (दग्ध) कर देने पर उनका कर्म रूप में अस्तित्व ही नहीं रहता। तब वह रस कैसे देंगे।

कर्म के दग्ध होने में भी असंख्यात समय लगते हैं। लेकिन भगवान् कहते हैं—जो कर्म पहले समय में दग्ध होने

लगे, उनकी अपेक्षा उन्हें दग्ध हुए कहना चाहिए। अन्य तीर्थी कहते हैं–दह्यमान कर्मों को अदग्ध कहना चाहिए, लेकिन भगवान् कहते हैं कि यह कथन मिथ्या है।

आठवां प्रश्न है–मिज्जमाणे मडे ? अर्थात् मरने लगे कि मरे कहना चाहिए। अन्य तीर्थी कहते हैं—जो म्रियमाण है–मर रहा है, वह मरा नहीं है, अतएव उसे मृत नहीं–जीवित कहना उचित है। म्रियमाण को 'मरा' कह देने से तो अनर्थ हो जायगा। मगर भगवान् कहते हैं--जो म्रियमाण है अर्थात् मरने लगा है उसे मृत कहना अनुचित नहीं है। अगर ऐसा न माना जाय-आयुष्य-क्षय के प्रथम समय में न मरा कहा जाय-तो अगले समयों में भी वह मरा नहीं कहा जायगा और इस प्रकार अंतिम समय में भी कभी मरा नहीं कहलाएगा। जैसे—अंजलि में से एक बूंद भी गिर जाय तो वह खाली कहलाती है, और यदि एक बूंद से खाली नहीं कही जायगी तो अंतिम बूंद से भी क्यों खाली कही जायगी ? इसी प्रकार प्रथम समय में आयु का नाश हुआ, फिर भी अगर मृत न माना जाय तो अंतिम समय में होने वाले आयुष्य के नाश से भी मरा कैसे कहा जा सकता है ? अतएव म्रियमाण को मृत कहना ही उचित है।

नौवां प्रश्न है—'निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ?' कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना–ऐसा अलग हो जाना कि वह फिर न

लगें-निर्जरा है। प्रथम समय में कर्म निर्जीर्ण होने लगे कि उन्हें निर्जीर्ण हुआ कहना भगवान् का सिद्धान्त है। लेकिन अन्य यूथिक कहते हैं कि निर्जीर्णमान कर्म को अनिर्जीर्ण कहना चाहिए। उनके इस कथन में वही पूर्वोक्त आपत्तियां आती हैं, जो पहले कही जा चुकी हैं।

अन्यतीर्थिकों की ओर से यह प्रश्न किया जाता है कि आप म्रियमाण को अर्थात् जो मर रहा है उसे 'मरा' कहते हैं, लेकिन व्यवहार में 'मरा' वह कहलाता है जो बिलकुल मर गया हो, क्या व्यवहार की यह बात नहीं मानना चाहिए?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैन सिद्धान्त अनेकान्तवादी है। वह व्यवहार का सर्वथा लोप नहीं करता। यथा—गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया कि क्या एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय कहना चाहिये? दो प्रदेशों को धर्मास्तिकाय कहना चाहिए? यावत् एक प्रदेश कम को भी धर्मास्तिकाय कहना चाहिए? तब भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम! ऐसा नहीं हो सकता। समस्त प्रदेशों को ही धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है। इस प्रकार एक ओर तो भगवान् ने 'चलमाणे चलिए' माना और दूसरी ओर यह कहा कि एक प्रदेश कम हो तो भी धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता। जब गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया तो भगवान् ने पहिये का उदाहरण देकर कहा—क्या पहिये

के एक भाग को पहिया कहा जा सकता है ? गौतम स्वामी ने कहा–नहीं। तब भगवान् ने कहा–तो जैसे पहिये के एक भाग को पहिया नहीं कहा जा सकता, किन्तु समूचे पहिये को पहिया कहा जा सकता है, इसी प्रकार एक प्रदेश, दो प्रदेश, यावत् एक भी प्रदेश कम धर्मास्तिकाय के खंध को धर्मास्तिकाय नहीं कह सकते। सम्पूर्ण लोक में व्याप्त धर्मास्तिकाय को ही धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है।

लेकिन व्यवहार में कभी खंड को भी पहिया कहा जाता है, और कभी समूचे को भी पहिया कहा जाता है। जैन सिद्धान्त भी इस व्यवहार का विरोधी नहीं है और व्यवहार तथा निश्चय दोनों को ही जैन सिद्धान्त स्वीकार करता है। इसी तरह जो मर रहा है, उसे भी मरा कहा जा सकता है और जो मर गया है उसको भी व्यवहारानुसार मरा कहा जा सकता है। इन दोनों बातों को जैन सिद्धान्त स्वीकार करता है।

प्रत्येक वस्तु का विचार स्याद्वाद-सिद्धान्त के अनुसार ही करना उचित है। ऐसा किये बिना ठीक विचार होना असंभव है। एकान्तवादी बनकर हठ करना ठीक नहीं। ऐसा करने से मिथ्यात्व आ जाता है। कोई यह न समझे कि हम जैन कहलाते हैं, इसलिए हमें मिथ्यात्व का पाप नहीं लग सकता। मिथ्यात्व के पाप से वही बचता है, जिसकी श्रद्धा शुद्ध एवं समीचीन होती है।

अन्यथा साधु का वेष धारण करने वाले भी क्या अभव्य नहीं होते ? जैसे साधु-वेषी होने पर भी कोई मनुष्य अभव्य हो सकता है, उसी तरह जैन कहलाने पर भी, यदि श्रद्धा शुद्ध नहीं है तो मिथ्यात्व का पाप लग सकता है । स्याद्वाद जो जीव मरने लगा है उसे भी मरा हुआ मानता है और व्यवहार में जिसे मरा हुआ कहते हैं उसे भी मरा मानता है । इन दोनों पक्षों में से किसी भी एक का निषेध करना एकान्तवाद है और जहां एकान्तवाद का प्रवेश हुआ वहां वस्तु का स्वरूप विकृत हुए बिना नहीं रहता ।

इस सिद्धान्त का निष्कर्ष क्या है ? अगर कोड़ा-कोड़ी वर्ष तक भी न भोगे जा सकने वाले कर्मों को एक क्षण भर में नष्ट करने का उपाय आपके पास है तो फिर कर्मों से घबराने की क्या बात है ? यह उपाय होते हुए भी देवी-देवता आदि के यहां क्यों मारे-मारे फिरते हो ? क्या वह आपके कर्म काट देंगे ? क्या उनमें आपके कर्मों को बदल देने की शक्ति है ? अतएव यह समझो कि:—

बिन कीधा लागे नहीं कीधा कर्मज होय ।
कर्म कमाया आपणा, ते थी सुख दुख होय ।
इम समकित मन थिर करो ॥

कोई कह सकता है कि—'कई बार देवी का डोरा बांधने से साता उत्पन्न होती है और आप भी कर्म का उपक्रम होना

कहते हैं। फिर कदाचित् कर्म का उपक्रम इसी तरह होता हो तो आप अन्तराय क्यों देते हैं ? लेकिन अच्छी तरह विचार करने से यह आशंका दूर हो जायगी। यों तो आप जिन्ह देव भी नहीं मानते, उनके द्वारा भी, उनकी मानसिक शक्ति से कुछ हो ही जाता है, तो क्या भगवान् को मानने से कुछ भी न होगा ? जिन भगवान् को तुम देवाधिदेव मानते हो, उनसे भी कुछ भी न होगा ? फिर चिन्तामणि छोड़ कर साधारण पत्थर को अपनाने की क्या आवश्यकता है।

यहां तक गौतम स्वामी के नौ प्रश्नों का विवेचन हुआ। इन प्रश्नों का विवेचन पहले ही इसी सूत्र के आरंभ में हो चुका था, फिर भी गौतम स्वामी ने अन्यतीर्थिकों के मत का उल्लेख करते हुए भगवान् के सामने यह प्रश्न उपस्थित किये। इन नव प्रश्नों में प्ररूपित सिद्धान्त मुक्तिमार्ग के साधक हैं, बल्कि यही मुक्ति के मार्ग हैं। चलने उदीरणा करने आदि उद्योग से आत्मा अपना विकास कर सकता है, यह बताना ही इन प्रश्नों का मुख्य उद्देश्य है। आत्मा के विकास की बात यदि आधुनिक विज्ञान से मिलाई जाय तो उसके भी अनुकूल होगी। दोनों का मिलान करने पर यह बात भी विज्ञान से भरी हुई मालूम होगी। विज्ञान किसी दूसरे पर अवलम्बित नहीं है, वरन् उसकी मान्यता यह है कि वस्तु स्वयं ही अपना विकास अन्तिम सीमा तक कर सकती

है। इसमें किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है। यही बात आत्मा के विकास के लिये भी है। इसीलिये गौतम स्वामी ने भगवान् से कहा—भगवन् ! आप तो 'चलमाणे चलिए' आदि सिद्धान्त बताते हैं, लेकिन अन्यतीर्थी इसके विपरीत कहते हैं। इस तरह प्रश्न करके गौतम स्वामी ने इन प्रश्नों का निर्णय फिर कराया।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी कहते हैं—भगवन् अन्य तीर्थी कहते हैं कि दो परमाणु-पुद्गल आपस में नहीं मिल सकते, क्योंकि उनमें मिलने की शक्ति नहीं है। हाँ, तीन परमाणु पुद्गल मिल सकते हैं। उनमें मिलने का धर्म है—आकर्षण शक्ति है। अतएव तीन तो आपस में मिल सकते हैं, दो नहीं मिल सकते। मिले हुए वह तीन परमाणु यदि अलग हों तो उनके दो या तीन खंड हो सकते हैं। अगर दो खंड हों तो डेढ़-डेढ़ परमाणु अलग अलग हो जाते हैं और यदि तीन खंड हुए तो एक-एक परमाणु अलग-अलग हो जाता है। गौतम स्वामी कहते हैं—क्या अन्य यूथिकों का यह कथन ठीक है ?

कोई कह सकता है कि इसमें कौन-सी बड़ी बात है, जिसके लिए गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया! लेकिन इस प्रकार की छोटी-छोटी बातें ही आगे चलकर विराट रूप धारण कर लेती हैं। अन्यतीर्थी इन छोटी बातों को आधार बनाकर दूसरे-दूसरे

सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी ने भगवान् से ऐसी बातों का निर्णय करा लिया है। आज आप विज्ञान से दूर हैं, इस कारण आपको यह प्रश्न छोटे मालूम होते हैं। इनका ठीक महत्व वैज्ञानिक ही जान सकते हैं।

पहले यह देखना चाहिए कि परमाणु पुद्गल किसे कहते हैं? मिलना और बिखरना जिसका धर्म है, वह पुद्गल कहलाता है। पुद्गल के विषय में जैन शास्त्र क्या कहते हैं और आजकल का विज्ञान क्या कहता है, इस बात पर भी संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

जैन सिद्धान्त में जिसे पुद्गल कहते हैं, उसका शब्दार्थ ही मिलना और बिखरना है। विज्ञान भी यही कहता है कि प्रत्येक पदार्थ में दो शक्तियां रहती हैं-विभेदक शक्ति और आकर्षक-शक्ति। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान वही बात कहता है जो जैन सिद्धान्त कहता है। जैन सिद्धान्त जिसे पूरण-स्वभाव कहता है उसे विज्ञान आकर्षक शक्ति का नाम देता है और जैन सिद्धान्त जिसे गलन-स्वभाव कहता है, विज्ञान उसे विभेदक शक्ति कहता है। शब्दों में अन्तर है, मगर बात एक ही है। प्रत्येक पुद्गल में ये दो शक्तियाँ हैं।

वस्तु का वह छोटे से छोटा भाग, जिसका फिर कोई भाग न हो सके जैन सिद्धान्त में वह परमाणु कहलाता है। उसी को

वैज्ञानिक लोग पदार्थ कहते हैं, जो मूल शक्ति का उत्पादक है तथा कारणरूप है। जैसे कपड़े का मूल सूत और भोजन का मूल उसकी सामग्री है, इसी प्रकार वस्तु का मूल कारण वैज्ञानिकों का कहा हुआ पदार्थ है। रसोई का मूल सामग्री है, नहीं तो रसोई बने कैसे ? कपड़े का मूल सूत है, अन्यथा कपड़ा बने कैसे ? कार्य के कारण की खोज करना ही विज्ञान है और विज्ञान द्वारा ज्ञानी लोग कारण की अंतिम सीमा तक पहुँचे हैं। हम लोग उनकी बात को न समझ सकें, यह हमारी दुर्बलता है, मगर उनमें ज्ञान की कमी नहीं थी।

प्रत्येक पदार्थ में आकर्षक शक्ति मौजूद है। परमाणु में भी वह विद्यमान है। इसी शक्ति के कारण परमाणु आपस में मिलते हैं।

वैज्ञानिकों के कथन के अनुरूप ही जैन सिद्धान्त में भी परमाणु, द्विप्रदेशी स्कंध, त्रिप्रदेशी स्कंध और इसी प्रकार अनन्तप्रदेशी स्कंध माने गये हैं।

प्रश्न हो सकता है कि परमाणुओं को मिलाता कौन है ? इस प्रश्न को हल करने के लिए कई लोगों ने ईश्वर की कल्पना की है। उनका कहना है कि परणुओं को मिलाने के लिए किसी विभिन्न शक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर नामक एक ऐसी शक्ति है जो परमाणुओं को मिला देती है और फिर अलग भी कर

देती है। लेकिन वैज्ञानिक कहते हैं कि पदार्थों में जो दो शक्तियां है, उनमें से आकर्षक शक्तिके द्वारा पदार्थ मिल जाते हैं और आपस में मिलते-मिलते सृष्टिके रूपमें आये हैं। जब यह अधिक हो जाएँगे अर्थात् सृष्टि बढ़ जाएगी, तब विभेदक शक्ति इन्हें अलग कर देगी। इस प्रकार से बिखर जाना ही प्रलय कहलाता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार दोनों शक्तियाँ हैं, और जिसमें यह पाई जाती हैं वही पुद्गल कहलाता है। लेकिन एक वस्तु का लोप करके दूसरी वस्तु नहीं बन सकती। परमाणु कदाचित् बिखर जाएँ तो भी परमाणु ही रहते हैं, अपरमाणु नहीं होते। अतएव परमाणुओं के बिखरने से भी सृष्टि शून्य नहीं होती। सृष्टि अनादि है, इसका लोप नहीं हो सकता। परमाणु दो प्रदेशी स्कंध, यावत अनन्त प्रदेशी स्कंध के बिखर जाने पर भी सृष्टि किंचित् भी खाली नहीं होती। परमाणु का जब छोटा रूप भी नहीं हो सकता तो सर्वथा विनाश कैसे हो सकता है ? और जब परमाणु का अन्त नहीं होता तो सृष्टि का अन्त कैसे हो सकता है ?

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर परमाणु दो प्रदेशी स्कंध, यहाँ तक कि अनन्त प्रदेशी स्कंध अगर बिखर सकते हैं, तब परमाणु का अपरमाणु क्यों नहीं हो सकता ? इसका उत्तर यह है कि परमाणु से अपरमाणु होने का अर्थ परमाणु का नाश होना है। मगर किसी भी चीज का नाश मानना भूल

है। जो चीज है वह नष्ट नहीं हो सकती और जो नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। वस्तु का रूपान्तर होता है, लेकिन नाश नहीं होता। जैसे ऑक्सीजन और हाइड्रोजन हवा के मिलने से पानी बनता है। जब पानी सुख जाता है, तब लोग समझते हैं कि पानी नष्ट हो गया, लेकिन वह नष्ट नहीं हुआ। बल्कि दोनों प्रकार की वायु बिखर गई है। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ का रूपान्तर होता है लेकिन कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता। लोग उसके रूपान्तर को जब समझ नहीं पाते तो उसे नष्ट हुआ मान लेते हैं।

जो लोग वास्तव में वस्तु का विनाश होना मानते हैं, उनसे पूछा जाय कि वस्तु फिर कैसे पैदा होती है ? इसके उत्तर में वह कह देते हैं—ईश्वर फिर पैदा कर देता है। इस प्रकार एक सत्य का परित्याग करने से दूसरे असत्य का आश्रय लेना पड़ता है अर्थात् वस्तु का नाश मानने से ईश्वर को बीच में लाना पड़ता है। लेकिन वास्तवमें ईश्वर कुछ भी नहीं बनाता-बिगाड़ता। गीता में भी कहा है—

नासतो विद्यते भावः नाभावो जायते सतः।

अर्थात्—जो पदार्थ सर्वथा असत् है, वह कभी सत् नहीं हो सकता और जो सत् है उसका कभी विनाश नहीं हो सकता।

भगवतीसूत्र में भी यही कहा है कि जो है वह नष्ट नहीं हो सकता और जो नहीं है वह उत्पन्न नहीं हो सकता! वस्तु का

बगदाद के बाहर एक किसान खेती जोत रहा था। उसने एक दृश्य अपनी ओर आते देखा। जब वह दृश्य उसके पास आ गया तो उसने पूछा-तू कौन है? उसने उत्तर दिया-'मैं महामारी हूं।'

किसान—तू करती क्या है?

म. मा.—मैं संहार करती हूँ, यही तो मेरा सनातन कर्त्तव्य है।

किसान—अच्छा देखें, कैसे संहार करती है? मेरा संहार करके दिखा।

म. मा.—तू डरता नहीं है, इसलिये तेरा संहार मैं नहीं कर सकती।

किसान—तो अब कहां जा रही है?

म. मा.—बगदाद जा रही हूँ।

किसान—किस लिए?

म. मा.—अपना कर्त्तव्य-पालन करने-जनसंहार करने।

किसान—कितने मनुष्यों का संहार करेगी?

म. मा.—पांच हजार का।

किसान—वहां से लौटते समय मुझसे मिलेगी तो सही? या नहीं?

म. मा.—अवश्य मिलूँगी।

किसान हल जोत रहा था कि महामारी वापस आई। उसे आई देख किसान को बड़ी उत्सुकता हुई। उसने कहा—अच्छा, आगई?

म. मा.—हां, देखते नहीं हो? सामने तो खड़ी हूँ।

किसान—कितनेक आदमियों का संहार किया?

म. मा.—पचास हजार का।

किसान—तू बड़ी झूठी है। पांच हजार का संहार करने को कह गई थी और किया पूरे पचास हजार का?

म. मा.—मैं झूठ नहीं बोलती। मैंने तो वास्तव में पांच हजार का ही संहार किया है, बाकी के पैंतालीस हजार तो भय के मारे ही मर गये हैं। मैं एक को पकड़ती थी और भय के कारण नौ आदमी दूसरे मर जाते थे। इस प्रकार पचास हजार मर गये।

यह कहानी तो असंभव-सी मालूम होती है, क्योंकि महामारी बोल नहीं सकती, मगर इसमें जो सत्य प्रतिपादन किया गया है उससे कौन असहमत हो सकता है? भय के कारण आज भी न जाने कितने आदमी मर जाते हैं। कौन नहीं जानता कि लोगों के दिल में तरह तरह के वहम घुसे हुए हैं। खास तौर पर स्त्रियों में तो भूत-चुड़ेल का ऐसा भय घुसा हुआ है कि शायद ही कोई स्त्री बिना दो-चार डोरे बाँधे मिलेगी। बालक और बालिकाओं को न जाने कितने डोरे बाँध दिये जाते हैं और

एकान्त विनाश हो ही नहीं सकता, सिर्फ रूपान्तर हो सकता है। अतएव परमाणु कभी अपरमाणु नहीं हो सकता।

प्रश्न किया जा सकता है—अगर परमाणु कभी अपरमाणु नहीं हो सकता तो पुद्गल को नाशवान् और जीव को अविनाशी क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि पुद्गल में आकर्षक और विभेदक नामक जो दो शक्तियां हैं, उनमें से आकर्षक शक्ति द्वारा वे एक, दो, तीन, चार यहां तक कि अनन्त तक आपस में मिल जाते हैं और विभेदक शक्ति के द्वारा बिखर जाते हैं। इस प्रकार मिलना और विखरना उनका स्वभाव है। लेकिन चेतन-जीव सदा एक-सा रहता है-मिलना-बिखरना नहीं है, अतएव उसे अविनाशी कहते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार आत्मा असंख्यात प्रदेश वाला है, लेकिन इसका एक भी प्रदेश कम या अलग नहीं होता। कभी ऐसा हुआ नहीं और होगा भी नहीं।

कुछ लोग कटे हुए बकरे के सिर और धड़ को अलग-अलग तड़फड़ाते देखकर यह कहते हैं कि आत्मा के प्रदेश जुदा-जुदा दो हिस्सों में बँट गये हैं, इसी कारण सिर और धड़ अलग-अलग तड़फ रहे हैं। लेकिन उन दोनों में आत्म प्रदेश का संबंध बना हुआ है। इसी कारण दोनों तड़फते हैं। जैसे कमल की नाल के दो टुकड़े किये जाएँ तो भी उन दोनों को

जुड़ा रखने वाला तंतु बना रहता है, उसी प्रकार सिर और धड़ में संबंध बना रहता है। लेकिन लोग तो सिर्फ स्थूल चीज ही देखते हैं। प्रत्येक की दृष्टि सूक्ष्म वस्तु की ओर नहीं पहुँच सकती।

इन सब बातों को समझाने का मतलब क्या है ? आप पुद्गल के पीछे पागल बन रहे हैं, पुद्गल की वृद्धि में अपनी वृद्धि मान रहे हैं और पुद्गल के चले जाने में या ह्रास में अपनी हानि समझते हैं। शास्त्रकार इस कथन द्वारा प्रकट करते हैं कि यह सब आपकी भ्रमणा है और इसी भ्रमणा के कारण संसार परिभ्रमण करना पड़ता है। यही भ्रमणा ही संसार में इधर-उधर दौड़ाती है। अतएव इन सिद्धान्तों को सुनकर पुद्गल के लाभ को अपना लाभ और पुद्गल की हानि को अपनी हानि मत समझो। यह मानो कि मैं सदैव एक सरीखा रहने वाला हूं। पुद्गल के पीछे भागने-दौड़ने से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता, बल्कि हानि ही होती है। अतएव उनके पीछे दौड़ना छोड़ो। तुम्हारा आत्मा ही अनन्त है, फिर किस भ्रम में पड़े हो ? किसी से भय क्यों करते हो ? तुम्हारा एक प्रदेश भी अनादि काल से अब तक कम नहीं हुआ, तो अब क्या कम होगा ? फिर किसी से भयभीत होनेकी क्या आवश्यक्ता है ? भ्रम में मत रहो। भ्रम में पड़ने वाले की क्या दशा होती है, इसके लिए एक उदाहरण लो:—

समझा जाता है कि इन डोरों पर ही इसकी जिंदगी निर्भर है। कदाचित् कोई डोरा टूट जाय तो ऐसा मालूम होता है कि बस, लड़के का जीवन ही कहीं नष्ट न हो जाय !

जहां डोरा, तावीज पर इतना विश्वास है; वहां णमोकार मंत्र पर कैसे विश्वास हो सकता है ? पहले के श्रावकों को देखो। आठ ताड़ ऊँचा पिशाच भी सामने आकर खड़ा हो गया, फिर भी भय नहीं खाया। उन्होंने ऐसा क्या खाया था कि वह निर्भय रह सके और आप में कौन-सी दुर्बलता है कि आप पत्ते की खड़खड़ाहट से भी डरते हैं ? उन्हों ने भगवान् की दवा खाई थी, इसी कारण वह निर्भय रह सके।

भगवान् के सिद्धान्तों को जानकर आपको क्या करना चाहिए ? यह विचार करो। अगर आप प्रयत्न करेंगे तो भगवान् के सिद्धान्तों पर अटल विश्वास रहेगा और फिर किसी से भी भय नहीं लगेगा। कहते हैं—पांच वर्ष का जापानी बालक हाथ में तलवार लेकर आधी रात में श्मशान में जा सकता है, मगर आपके यहां के चालीस साल के लोग भी क्या ऐसा साहस कर सकेंगे ? जबतक मन में वहम घुसा हुआ है, तबतक इतना साहस कैसे हो सकता है ? यहां तक कि कई—एक संतों और सतियों के मन में भी वहम घुस रहा है। कई लोगों ने ऐसे वहम की पुस्तकें प्रकाशित करके लोगों के मन में भय भर दिया है। मगर आप

इस भय के फंदे में मत फँसो। अपने घर में सभी कुछ होते हुए भी जो पराये घर की जूठन चाटते फिरते हैं, उन्हें क्या कहा जाय ? यों तो कुछ लालच हुए विना वे ऐसा नहीं करते फिर भी विचारणीय तो यह है कि वह लालच और लालच से प्रेरित होकर किये जाने वाले कार्य त्यागने लायक हैं या ग्रहण करने लायक हैं ? कोई भी सत्पुरुष दुष्कर्मों का समर्थन नहीं कर सकता।

अखबारों में छपा था कि एक देवी भक्त ने एक लड़की का सिर काट डाला। आखिर उसे फाँसी हुई। यह सब भ्रम का ही माहात्म्य है। आप लोगों में तो ऐसे भ्रम का लेश भी नहीं होना चाहिये। कदाचित् इन बातों के त्यागने से, संस्कार के कारण पहले पहल कुछ कष्ट भी मालूम हो तो उसे भी सुख का कारण समझ कर सहर्ष ग्रहण करो। तपस्या करने पर भूख का दुःख तो होता है, लेकिन उस दुःख को सुख का ही कारण समझा जाता है। ऐसा समझकर ही उपवास किया जाता है।

भ्रम के अनेक रूप होते हैं। अन्यतीर्थिकों को यह भ्रम है कि दो परमाणु आपस में नहीं मिल सकते। तीन परमाणु आपस में मिल तो जाते हैं, मगर अलग होने के समय डेढ़-डेढ़ भी हो सकते हैं। यह उनका भ्रमपूर्ण कथन है।

अगर कोई व्यक्ति विपरित प्ररूपणा करता है तो इससे ज्ञानियों की क्या हानि है ? फिर भी वह करुणा से प्रेरित हो

करके ही विपरीत प्ररूपणा का विरोध करते हैं और वस्तुतत्त्व का यथार्थ प्ररूपण करते हैं। वह जगत् की बुराई मिटाने का प्रयत्न निरन्तर करते ही रहते हैं, चाहे उनके प्रयत्न से कोई सुधरे या न सुधरे। अलबत्ता, उनके प्रलय से बहुत लोग बिगड़ने से बच जाते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी ने अन्य तीर्थिकों की प्ररुपणा का प्रश्न उठाया है। आज चाहे कोई ऐसी प्ररूपणा न करता हो, फिर भी भगवान् के समय में ऐसी प्ररुपणा की जाती थी। इसी कारण गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है और भगवान् से समाधान करवाया है।

गौतम स्वामी भगवान् से कहते हैं—अन्यतीर्थिकों का कथन यह है कि दो परमाणु आपस में नहीं मिल सकते। दो परमाणुओं में स्नेहकाय नहीं होता। अतएव उनका एक दूसरे के साथ जुड़ना संभव नहीं है। तीन या अधिक परमाणु जुड़कर स्कंध बन जाते हैं। जुड़े हुए तीन परमाणु जब अलग होते हैं—विभेदक शक्ति उन्हें जब अलग करती है, तब उन जुड़े हुए तीन परमाणुओं के दो या तीन भाग होते हैं। दो भाग होंतो डेढ़-डेढ़ परमाणु अलग होजाते हैं और तीन भाग होंतो एक-एक परमाणु अलग-अलग हो जाता है।

गौतम स्वामी के कथन पर भगवान् ने उत्तर दिया अन्यतीर्तिक यह मिथ्या कहते हैं। एक तरफ़ वे ऐसा कहते हैं-और दूसरी

तरफ दूसरी बात कहते हैं। वे अपनी कही हुई बात भी नहीं समझ सकते। इसका कारण मोह है। जैसे मदिरापान से मतवाला पुरुष अपनी बात को भी नहीं समझ पाता, उसी प्रकार मिथ्यात्व के नशे के कारण अन्यतीर्थिकों को अपनी ही बात का ध्यान नहीं है। मिथ्यात्वी को विभंग ज्ञान हो जाने पर भी उसमें मतवालापन रहता ही है।

भगवान् कहते हैं—हे गौतम ! प्रत्येक परमाणु में स्नेहकाय है। तीन परमाणुओं का जुड़ना और बिखरना तो वे लाग भी मानते हैं। अगर परमाणुओं में स्नेहकाय (चिकनापन) न होता तो वे जुड़ते कैसे ? अगर जुड़ते हैं तो उनमें स्नेहकाय मानना ही होगा ! दो परमाणु पुद्गल में स्नेहकाय नहीं है तो तीसरे में कहां से आ जाता है ? इसके सिवाय उन्होंने तीन परमाणु पुद्गलों के दो विभाग, डेढ़-डेढ़ परमाणुओं के माने हैं, सो परमाणु आधा कैसे हो सकता है ? परमाणु तो वही पुद्गल कहलाता है, जिसका भाग न हो सकता हो।

परमाणु छोटा होता है, फिर भी उसमें जुड़ने की शक्ति है। अगर परमाणु आपस में जुड़ न सकते हो तो स्थूल पुद्गल दिखलाई नहीं पड़ सकता। सूक्ष्म होने के कारण हमें परमाणु नहीं दिखाई देता, लेकिन परमाणुओं के कार्य-स्थूल पदार्थ को देखकर हम परमाणु का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि हम जो स्थूल पदार्थ घट आदि देखते हैं वह परमाणुओं का ही पिंड है।

कोई लोग केवल चैतन्य ही चैतन्य मानते हैं और कोई केवल जड़ ही जड़ पदार्थ मानते हैं। लेकिन जैन सिद्धान्त जड़ और चेतन दोनों का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। यहाँ केवल जड़ की ही बात चल रही है, इसीलिए भगवान् ने कहा है कि दो परमाणु भी परस्पर में जुड़ते हैं। दो परमाणुओं के न जुड़ने की बात मिथ्या है।

अब गौतम स्वामी कहते हैं—भगवन्! अन्यतीर्थी एक बात और कहते हैं। उनका कथन यह है कि जैसे तीन परमाणु जुड़ते हैं, वैसे ही पाँच परमाणु जुड़ कर जीव के दुःख रूप में परिणत हो जाते हैं। पाँच परमाणु आपस में जुड़कर कर्म के स्कंध बन जाते हैं। लेकिन किसी के बनाने से वे नहीं बनते, स्वभाव से ही वह स्कंध बन जाते हैं वह पाँच परमाणु मिलकर दुःख रूप में उत्पन्न हो जाते हैं और फिर च्युत भी हो जाते हैं। गौतम स्वामी कहते हैं—भगवन्! उनका यह कथन सत्य है?

भगवान् उत्तर देते हैं—यह कथन मिथ्या है। दुःख रूप परिणत होने वाले अनन्त प्रदेशी स्कंध हैं। इसके सिवाय दुःख स्वभाव से ही होता है, यह कथन भी मिथ्या है। दुःख उत्पन्न करने से होता है, बिना उत्पन्न किये नहीं होता।

कई लोग कहा करते हैं—होनहार को कौन टाल सकता है? भावी को मिटाने में कौन समर्थ है? यह नियतिवादी गोशालक

का मत है। एक प्रकार से जैन सिद्धान्त अपने स्याद्वाद मत के अनुसार इस बात का एकान्ततः निषेध नहीं करता, लेकिन वह एकान्त नियतिवाद (होनहार के सिद्धान्त) को भी स्वीकार नहीं करता। जैन सिद्धान्त अपनी तेजस्वी भाषा में कहता है—अगर भवितव्यता ही सब कुछ है तो तुम क्या निरे मिट्टी के पुतले हो ? तुम्हारे मुँह पर मक्खी बैठी हो तो उसे उड़ाने के लिए हाथ हिलाते हो या नहीं ? क्या यही सोच कर रह जाते हो कि भवितव्य होगा तो आप ही उड़ जायगी ? हाथ हिला कर मक्खी उड़ा दी और इस प्रकार भवितव्य को मिटा दिया तो उद्योग को मानने में क्या हर्ज है ? उद्योगवाद स्वीकार करने से आलस्य नहीं रहता और होनहार के भरोसे बैठे रहने से जीवन आलस्यमय हो जाता है। ऐसी अवस्था में भवितव्य के भरोसे ही न बैठकर उद्योग को भी स्वीकार कर लेने में लाभ के सिवाय हानि क्या है ?

जो काम जिस सीमा तक हो सकता है, उसका उसी सीमा तक होना भवितव्य का अर्थ है। यह ठीक है कि प्रत्येक कार्य अपनी सीमा तक ही होता है। जैसे-सेर भर आटे की रोटियाँ एक नियत तोल की ही हो सकती हैं। यह भावी है। मगर रोटी तो उद्योग से ही बनती है। उद्योग के बिना कभी किसी ने आकाश से रोटी टपकती देखी या सुनी हो तो बात अलग

है। अतएव अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए उद्योग करने की अवश्यकता है। उद्योग से ही कार्य सिद्ध हो सकता है। कहा भी है—

उद्योगेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

अर्थात्—सभी कार्य उद्योग करने से ही सिद्ध होते हैं। मंसूबा करने से सिद्धि—लाभ नहीं होता। सोये हुए सिंह के मुख में मृग आकर प्रवेश नहीं करते। वरन् सिंह को ही पराक्रम करना पड़ता है।

भावी और उद्योग के विषय में उपासकदशासूत्र में भी वर्णन आया है। सकडालपुत्र कुंमार गोशालक का अनुयायी था। गोशालक का सिद्धान्त था कि जो कुछ होता है, भवितव्यता से ही होता है, उद्योग से नहीं होता। उद्योग, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम के किये कुछ भी नहीं होता।

सकडालपुत्र कुंमार तीन करोड़ सोनैया (स्वर्ण-मोहरों) का स्वामी था। उसने एक करोड़ सोनैया भूमि में गाड़ रक्खे थे, एक करोड़ सोनैया का घर आदि सब फैलाव था और एक करोड़ से व्यापार करता था। उसके पांच सौ दुकानें थीं और तीस हजार गायें थीं पशु थे। वह इतना धनी था और धर्मक्रिया करता हुआ पोलासपुर में रहता था।

सकडालपुत्र कुंभार मिट्टी के बर्त्तनों की पांच सौ दुकानें चलाता था। आप एक भी दुकान नहीं चलाते। ऐसी दशा में आपकी दृष्टि में वह महारंभी ठहरा। लेकिन पांच सौ दुकानें चलाने पर भी वह उत्कृष्ट दस श्रावकों में गिना गया है। आप स्वयं जो काम नहीं करते, उसकी टीका करने लगते हैं, लेकिन ऐसा करने वाले ने धर्म को नहीं जाना है। एक आदमी आग-पानी आदि का आरंभ नहीं करता मगर दिन में दस-बीस बार झूठ बोलकर अपनी आजीविका के योग्य उपार्जन कर लेता है। दूसरा आदमी पांच सौ मिट्टी के बर्त्तनों की दुकानें चलाता है और इसी हिसाब से अग्नि, पानी आदि का आरंभ भी करता है। लेकिन इसके साथ वह जरा भी झूठ नहीं बोलता। आपकी नजर में इन दोनों में ज्यादा पापी कौन है? अगर आप झूठ बोलने का पाप जरा-सा समझते हैं तो आपने जैन धर्म को समझा ही नहीं है।

शास्त्र कहता है कि गृहस्थ श्रावक आरंभ से नहीं बच सकता, लेकिन वह बड़ा पाप नहीं करता है। वह बड़ी हिंसा, बड़ा झूठ, बड़ी चोरी आदि का पाप कदापि नहीं करेगा। जो लोग ऐसा पाप करते हैं, उनकी अपेक्षा श्रावक अल्पारंभी है। अगर बाहर के ही आरंभ को देखते हो तो एक तो यह कुंभार है जो ऐसा आरंभ करता है और दूसरा कोई ऐसा है जो कुछ भी काम नहीं करता, घर पर बैठा रहता है, मगर मिथ्यात्वी है। अब इन दोनों में से महा-आरंभी किसको कहेंगे? बाह्य आरंभ करने

वाला ही आरंभी है, ऐसा मानने वाला मिथ्यात्वी को महा-आरंभी कैसे कह सकता है ? ऐसा मानते हुए भी अगर मिथ्यात्वी को महा-आरंभी कहा जाय तो मिथ्यात्वी के प्रति द्वेष ही समझना चाहिए।

चार आदमी मोटर में बैठकर जा रहे थे। उनमें से एक वेश्या के पास जा रहा था। दूसरा शिकार खेलने जा रहा था। तीसरा शराब पीने जा रहा था और चौथा साधु के दर्शन करने जा रहा था। पानी खूब बरसता जाता था और मोटर से भी जीव हिंसा हो रही थी। चलते-चलते दुर्घटना होने से मोटर टूट गई और उसमें बैठे हुए चारों आदमी मर गये। अब इन मरे हुए चारों आदमियों में से आप किसे महा-आरंभी और किसे अल्पारंभी कहेंगे ? चारों में से कौन धर्मात्मा था और कौन पापी था ? बाहरी आरंभ तो चारों का बराबर ही है। अगर आप साधु के दर्शन करने के लिए जाने वाले को धर्मात्मा कहें तो यह क्यों ? अब आपको यही उत्तर देना पड़ेगा कि उसके परिणाम अच्छे थे। तब हम कह सकते है कि एक जगह परिणाम देखकर पाप–पुण्य का निर्णय करना और दूसरी जगह बाहरी क्रिया देख कर पाप–पुण्य का निर्णय करना यह कहाँ का न्याय है ?

सकडालपुत्र के विषय में आप बाहरी आरंभ मत देखो, उसके भी परिणाम देखो। अगर उसका बाह्य आरंभ ही देखना होता तो उसकी गणना उत्कृष्ट दस श्रावकों में न की जाती।

सकडालपुत्र के पास एक दिन देव ने आकर कहा-कल यहाँ महामाहन, महागोपाल और महासार्थवाह पधारेंगे। तू उन्हें वन्दन-नमस्कार करना। उन्हें पाट आदि देना और उनसे धर्मोपदेश सुनकर धारण करना। देवने भगवान् महावीर को लक्ष्य करके यह सब कहा था, मगर सकडालपुत्र, गोशालक का भक्त होने के कारण गोशालक के विषय में ही यह सब समझ बैठा।

दूसरे दिन पोलासपुर में भगवान् महावीर पधारे। सकडालपुत्र उन्हें वन्दन करने गया। भगवान् ने उससे देव वाली कल की घटना कह सुनाई और पूछा क्या यह सत्य है? सकडाल ने भगवान् के कथन की सत्यता अङ्गीकार की। तब भगवान् ने कहा-सकडालपुत्र! देव ने मुझे लक्ष्य करके तुम्हें कहा था, गोशालक को लक्ष्य करके नहीं।

सकडालपुत्र ने भगवान् का उपदेश सुना, मगर उस पर उसे श्रद्धा नहीं हुई। उपदेश सुन कर वह चला गया, लेकिन जाते समय यह प्रार्थना कर गया कि-प्रभो! आप मेरे यहां पधारें। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। वे उसके यहां पधारे।

सकडालपुत्र ने अपनी दुकान में बने हुए मिट्टी के बर्तन धूप में सूखने के लिए बाहर रक्खे थे। सकडालपुत्र बर्तनों की देखरेख कर रहा था। उस समय भगवान् ने सकडालपुत्र से पूछा-यह बर्तन किस प्रकार बने हैं?

सकडालपुत्र बोला—भगवन् ! पहले मिट्टी लाई गई। उसमें राख, लीद आदि मिलाई और मिट्टी खूब एक रस की गई। इस प्रकार मिट्टी तैयार की गई। फिर चाक पर चढ़ाकर उससे बर्त्तन बनाये।

भगवान्—यह बर्त्तन उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम से बने हैं या इनके बिना ही बन गये हैं ?

सकडालपुत्र अपनी श्रद्धा का पक्का था। उसकी श्रद्धा गोशालक के भवितव्यवाद (नियतिवाद) पर थी। इसलिए उसने उत्तर दिया—भगवन्, भवितव्य ऐसा ही था, इसी कारण यह बर्त्तन बन गये। इनके बनाने में उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम की आवश्यकता नहीं।

भगवान्—अगर कोई युवक हाथ में लाठी लेकर तुम्हारे यह बर्त्तन फोड़ डाले तो तुम उसे कुछ कहोगे ?

सकडालपुत्र—ऐसा करने पर मैं उसके कान, नाक आदि अङ्ग काट डालूँगा, अगर मेरा वश चलेगा तो उसे मार भी डालूँगा।

भगवान्—ऐसा क्यों करोगे ? यह बर्त्तन तुम्हारे बनाये तो हैं नहीं, भवितव्य से बने हैं और भवितव्य से ही फूटेंगे। इन्हें कोई फोड़ भी नहीं सकता। फिर तुम उस पुरुष को क्यों दण्ड दोगे ? इसी प्रकार भगवान् ने उसकी भार्या के संबंध में प्रश्न किया।

भगवान् की बात सुन कर सकडालपुत्र को बोध हुआ। उसने भगवान् के समीप धर्म श्रद्धा ग्रहण की।

भगवान् के पधार जाने पर गोशालक आया। उसने सकडालपुत्र को समझाने का प्रयत्न भी किया, लेकिन सकडालपुत्र पर कुछ भी असर नहीं हुआ।

शास्त्रकार ने यह कथा लिखकर आपको गंभीर सूचना दी है। आप भी महावीर के शिष्य हैं और जो महावीर का शिष्य होगा वह उद्योग के महत्व का कदापि अस्वीकार न करेगा। भवितव्य को ही मानना गोशालक का मत है। उद्योग से सब कुछ होता है, यह बात इतनी स्पष्ट है कि इस पर अधिक विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

भवितव्य के भरोसे निठल्ले बैठे रहना अच्छा नहीं। उद्यम करते-करते मृत्यु आ जाय तो भी चिन्ता नहीं। जैसे मुनि दर्शन के लिए जाता हुआ व्यक्ति मार्ग में मर गया तो भी यही कहा जायगा कि वह धर्मात्मा था। अतएव शुभ कार्य में उद्योगशील रहो। इसी में कल्याण है।

तात्पर्य यह है कि पांच परमाणु पुद्गल मिलने पर उनका जो दुःखरूप परिणमन होता है, वह स्वभाव से ही होता है और किसी के करने से नहीं होता, ऐसा अन्यतीर्थिकों का मत सत्य नहीं है। कोई भी दुःख बिना किये उत्पन्न नहीं हो सकता।

शास्त्र में यह नहीं कहा है कि यह मान्यता किसकी है कि दो परमाणु आपस में नहीं जुड़ते, और तीन परमाणु जुड़ते हैं तथा टूटने पर डेढ़-डेढ़ हो जाते हैं। एक और दो परमाणुओं का भी संयोग न मानना और दूसरी तरफ डेढ़ परमाणु का संयोग मान लेना, यह परस्पर विरोधी मान्यता है। जान पड़ता है, जिसने ऐसी प्ररूपणा की है, उसका स्वतंत्र मत या सम्प्रदाय नहीं होगा। जो भी कुछ हो, शास्त्र में उसका नाम नहीं दिया है अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि यह मत अमुक का था।

कदाचित् कोई यह कहे कि किसी के न मानने पर भी ऐसा लिख दिया हो तो? उसे समझना चाहिए कि वीतराग-प्ररूपित शास्त्रों में ऐसी बात नहीं हो सकती। जो बात कोई मानता ही नहीं, उसका उल्लेख करके फिर खंडन करने की आवश्यकता ही नहीं। और जब किसी मत का नाम ही नहीं दिया है तो किसी को बदनाम करने की नीयत से ऐसा किया गया है, यह आक्षेप तो हो ही कैसे सकता है? बल्कि जिस बात का यहाँ खंडन किया गया है, उसे मानने वाले का नामोल्लेख न करने में वीतरागता का ही आभास मिलता है। कहा जा सकता है कि शास्त्रकार को सिर्फ सिद्धान्त बतलाना था, किसी की निन्दा नहीं करनी थी। अतएव, सिद्धान्त बता दिया और उसकी त्रुटि भी बतला दी। कोई माने या न माने, उसकी इच्छा, लेकिन भगवान् ने वीतरागभाव से जो कुछ कहा है, उसमें शंका को स्थान नहीं है।

अन्यतीर्थी लोगों की दूसरी मान्यता यह है कि पाँच परमाणु मिल कर जीव के दुःख रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। वह दुःख जीव का किया हुआ नहीं होता, किन्तु जीव के किये बिना ही उत्पन्न हो जाता है कर्म के वह पुद्गल इकट्ठे भी होते हैं और अलग भी हो जाते हैं। ऐसा निरंतर होता ही रहता है। जो काम सदैव निरन्तर होता रहता है, उसे करने की आवश्यकता नहीं होती।

जैसे पानी स्वयं ही बरसता है, किसी के बरसाने से नहीं बरसता और बरस कर आप ही बन्द हो जाता है, किसी के बंद करने से बंद नहीं होता, संभवतः इसी प्रकार उनका कथन है कि दुःख के पुद्गल भी आप ही जुड़ते हैं और आप ही बिखर भी जाते हैं। वे किसी के जोड़ने से नहीं जुड़ते और बिखेरने से नहीं बिखरते। इसी प्रकार दुःख आपही उत्पन्न हो जाता है और आप ही मिट भी जाता है। वह भी किसी का किया हुआ नहीं होता।

पानी दो तरह से बरसता है, एक तो प्राकृतिक रीति से दूसरे कृत्रिम रीति से। आजकल कृत्रिम रीति से भी पानी बरसाया जाता है। कृत्रिम रीति से पानी बरसाने के लिए हवा का मिश्रण करना पड़ता है। सुना है—अमेरिका में चार डिब्बों में हवा भर देते हैं। उनमें से एक डिब्बे की हवा छोड़ने पर वह हवा ही रहती है, लेकिन दूसरे डिब्बे की हवा छोड़ने पर दोनों

हवाएँ बादल बन जाती हैं। तीसरी हवा छोड़ने पर बादल गरजने लगते हैं और बिजली चमकने लगती है। अन्त में चौथी हवा छोड़ने पर पानी बरसने लगता है इस प्रकार की कृत्रिम वर्षा कई कोस में की जा सकती है। मगर ऐसा पानी बरसाने में खर्च ज्यादा पड़ता है।

मतलब यह है कि जैसे अकृत्रिम पानी स्वयं ही बरसता तथा स्वयं ही बंद होता है, उसी तरह कर्म-पुद्गल भी स्वयं ही उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। इसके लिए किसे कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है।

एक नय की अपेक्षा तो यह कथन ठीक है कि कर्म के पुद्गल ही समय-समय पर बँधते हैं लेकिन इसके साथ यह जो कहा जाता है कि कर्म बिना किये ही लगते हैं, यह ठीक नहीं है। बिना किये कर्म लग ही नहीं सकते।

अन्यतीर्थी यह भी कहते हैं कि भाषा बोलने से पहले तो भाषा है, लेकिन बोलने के समय भाषा नहीं है और बोलने के बाद फिर भाषा है। ऐसा मानने वालों की दलील यह है कि अपने मन के भावों को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् मन के भावों को समझाना ही भाषा का उद्देश्य है। भाषा किसी को लक्ष्य करके ही बोली जाती है। अतएव बोलने से पहले भाषा थी, बोलने के बाद भाषा रही

परन्तु बोलते समय भाषा, भाषा नहीं है। बोलने से पहले वक्ता के मन में भाव थे और जब तक उसके मन में भाव हैं तभी तक वह भाषा है। लेकिन जब भाषा का प्रयोग करना आरंभ किया तो वह भाषा नहीं रही, क्योंकि वर्त्तमान काल अत्यंत अत्यंत सूक्ष्म है—एक समय मात्र का है और उसमें कोई क्रिया नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त एक समय में पूरे पद का उच्चारण भी नहीं हो सकता और पद का उच्चारण हुए बिना कोई अर्थ समझमें नहीं आ सकता। उदाहरणार्थ, किसी ने धर्म पद का उच्चारण किया। इस पद में ढाई अक्षर हैं। इनमें से पहले अक्षर का उच्चारण करके दूसरे अक्षर का उच्चारण करने लगे, तब पहला अक्षर नष्ट हो जाता है। केवल पहले अक्षर के उच्चारण से कोई अर्थ समझ में नहीं आ सकता। अतएव दूसरे अक्षरों का उच्चारण करना आवश्यक है, लेकिन दूसरे के उच्चारण के समय पहला अक्षर नहीं रहा। इस प्रकार बोलते समय निरर्थक होने के कारण भाषा, भाषा नहीं रही। हाँ, बोलने के पश्चात् भाषा, भाषा है, क्योंकि उससे श्रोता को अर्थ का बोध होता है।

तात्पर्य अन्यतीर्थिकों का मन्तव्य यह है कि भाषा बोलने से पहले और बोलने के पश्चात् तो भाषा है, मगर बोलते समय भाषा नहीं है। उनका यह मन्तव्य मिथ्या है। वास्तव में भाषा वही है जो बोली जा रही हो। बोलने से पहले भाषा, अभाषा

है क्योंकि वह उस समय तक बोली नहीं गई और इस कारण उसका अस्तित्व ही नहीं है और बोलने के पश्चात् भी वह अभाषा है क्योंकि बोलने के पश्चात् शब्द और अर्थ का वियोग हो जाता।

अन्यतीर्थिक लोग, वर्त्तमान काल में पूरे पद का प्रयोग न कर सकने के कारण भाषा को अभाषा कहते हैं। इससे मिलता-जुलता स्याद्वाद-दर्शन में, सप्तभंगी में एक भंग 'अवक्तव्य' है। वस्तु के धर्म अनन्त हैं और ऐसा कोई शब्द नहीं है जिससे समस्त धर्मों का प्रतिपादन किया जा सके। अतएव एक साथ वस्तु के प्रतिपादन की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य स्वीकार की गई है। लेकिन अन्यतीर्थी शायद इसी एक भंग को पकड़ कर कहते हैं कि बोलने के समय अक्षर नष्ट होते जाते हैं, अतएव बोलते समय भाषा, भाषा नहीं है। अतएव सप्तभंगी के अवक्तव्य भंग में और इस मान्यता में काफी अन्तर पड़ जाता है। भगवान् ने इस मान्यता के विरुद्ध सिद्धान्त प्रकट किया है। उन्होंने फर्माया है—भाषण करने, बोलने के कारण ही भाषा, भाषा कहलाती है। अगर बोलते समय भी भाषा, भाषा नहीं है तो त्रिकाल में भी वह भाषा नहीं हो सकती। भले ही समय सूक्ष्म है और उस सूक्ष्म समय में सारी वस्तु नहीं कही जा सकती लेकिन भाषा तो वही हो सकती है, जो बोली जा रही हो। बोलने से पहले, जब भाषा का अस्तित्व ही नहीं, तब उसे भाषा मानना और बोलने के पश्चात् जब शब्द और अर्थ अलग हो जाते हैं तब भी उसे

भाषा कहना, मगर बोलते समय भाषा को भाषा न कहना बड़े आश्चर्य की बात है।

अन्यतीर्थी लोग भूतकालीन और भविष्यकालीन अर्थात् बोली हुई और आगे बोली जाने वाली भाषा को ही भाषा मानते हैं, इसलिये वह यह भी कहते हैं कि जो भाषण न कर रहा हो ऐसे पुरुष की भाषा ही भाषा है। वह वर्त्तमान कालीन-बोली जाती हुई भाषा को भाषा नहीं मानते, इसलिये उन्हें यह भी मानना पड़ता है कि बोलने वाले की भाषा, भाषा नहीं है। मगर उनका यह कथन भी मिथ्या है। जो न बोलता हो, उसकी भाषा ही भाषा है, यह कथन स्ववचन बाधित है। अगर न बोलने वाले की भाषा, भाषा है तो वह मुक्त जीवों की तथा अचेतन पदार्थों की ठहरेगी, क्योंकि वे कभी नहीं बोलते। इसके अतिरिक्त असत्य भाषण करने वाला पाप का भागी नहीं ठहरेगा क्योंकि जो असत्य बोल रहा है, वह उसकी भाषा नहीं है, वह तो नहीं बोलने वाले की है अतएव असत्य नहीं बोलने वाले ही पाप के भागी होंगे। फिर तो गाली देने वाला निरपराध और गाली न देने वाला ही अपराधी ठहरेगा। यह मान्यता इतनी विचार हीन है कि इस पर अधिक प्रकाश डालने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

भाषा सम्बन्धी प्रश्न आज कुछ दार्शनिक ग्रन्थों को छोड़ कर अजैन ग्रन्थों में नहीं देखे जाते। लेकिन जैनों में ही कुछ ऐसे

फिरके हो गये थे, जो मूल वस्तु को मानते हुए भी उसे दूसरा रूप दे देते थे। जमालि का मत इसका एक उदाहरण है। गौतम स्वामी ने यहां किसी मत-विशेष का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु केवल अन्यतीर्थी कहा है। इस प्रकार के फिरके सदा से होते आये हैं। हमें भगवान् की कही हुई बातों पर विचार करना चाहिए, लेकिन कोई बात कदाचित् समझ में न आवे तो भी भगवान् की बात पर, यह मान कर श्रद्धा करना चाहिए कि भगवान् वीतराग और सर्वज्ञ हैं उनका कथन अन्यथा नहीं हो सकता। कहा भी है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः॥

भगवान् का कहा हुआ तत्त्व सूक्ष्म है। वह किसी भी हेतु से खंडित नहीं हो सकता। अतएव वह उनकी आज्ञा से ही सिद्ध है। वह इसी कारण सत्य है कि भगवान् ने उसका निरूपण किया है। जिन अन्यथावादी नहीं होते।

ऐसा न समझ कर जो लोग सूक्ष्म तत्त्व-विचार के अधिकारी न होते हुए भी उसमें अपनी बुद्धि का ही प्रयोग करना चाहते हैं, वे तत्त्व की गहराई तक नहीं पहुँच सकते। शास्त्र हमारे सामने हैं। उनसे समझने का प्रयत्न करना हमारा काम है। लेकिन बात समझने का प्रयत्न न करना और यह हठ करना कि मैं जो कुछ कहता हूँ वही सत्य है, यह ठीक नहीं। सूर्य प्रकाश

करता है, लेकिन अंधे को या जान-बूझ कर आँख बंद कर लेने वाले को वह प्रकाश क्या लाभ पहुँचा सकता है ? इसी प्रकार हमारे सामने शास्त्ररूपी सूर्य का प्रकाश चमक रहा है परन्तु जान-बूझ कर ही जो उसे न माने तो फिर उसे कैसे समझाया जा सकता है ? भगवान ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि तू अपनी निष्पक्ष बुद्धि से जिसे ठीक और सत्य समझता है, वह चाहे सत्य न हो तो भी तेरे लिए वह सत्य ही है । आचारांग सूत्र में कहा है:—

'समयंति मन्नमाणे समया वा असमया वा समया होंति ऊहयाए ।'

अगर तुझे सम्यक्त्व है, तेरा हृदय सच्चा है और सत्य समझ कर ही कह रहा या मान रहा है, लेकिन विशिष्ट ज्ञानी की दृष्टि में वह सत्य नहीं है तो भी वह सत्य ही है । उस असत्य को सत्य मानने के कारण तेरा सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता ।

इस प्रकार भगवान ने सब मार्ग खुले रक्खे हैं, लेकिन कुछ लोग अपनी ही बातें चलाने के लिए भगवान की इन बातों को विस्मृत कर रहे हैं । वे कहते हैं कि काय से पाप करने में ज्यादा पाप लगता है और मन से अनुमोदन करने में कम पाप लगता है । इसका समर्थन करने के लिए वे उत्तराध्ययनसूत्र का यह प्रमाण उपस्थित करते हैं:—

धम्मं पि हु सद्दहंतया दुल्लहा काएण फासया ।

ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि भगवान ने यह भी तो कहा है कि—

सद्धा परमदुल्लहा ।

अर्थात्—श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है ।

मगर जो भगवान् के वचनों को भूल रहे हैं, उन्हें क्या कहा जाय ? भगवान् के वचनों को भूल जाने वाले जो चाहें, कह सकते हैं । मगर वह भाषा सत्य नहीं होगी ।

भाषा सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के पश्चात् गौतम स्वामी कहते हैं- हे भगवान् ! अन्यतीर्थी एक बात और कहते हैं उनका कथन यह है कि जीव जब तक बाहर क्रिया नहीं करता किन्तु भीतर ही भीतर क्रिया करने का विचार करता है, तब तक ही वह क्रिया दुःख देती है । अर्थात् क्रिया जब तक की नहीं जाती, तभी तक दुःख देती है, काय से करने पर दुःख नहीं देती । साथ ही क्रिया करने बाद भी दुःख देती है, केवल करते समय दुःख नहीं देती ।

इस विषय में अन्यतीर्थियों से पूछा जाय कि क्रिया करने से दुःख होता है या बिना किये ही दुःख होता है ? तो इसके उत्तर में वे यही कहते हैं कि बिना किये ही दुःख होता है, किये से दुःख नहीं होता । भूतकाल में जीव को जो दुःख हुआ वह बिना किये ही हुआ । कर्म किये बिना ही आत्मा कर्म के साथ बँध जाता है और बिना किये दुःख से ही प्राणी, भूत, जीव तथा सत्त्व दुःख भोगते हैं ।

इस विषय की व्याख्या करने से पहले यह बतला देना आवश्यक है कि प्राणी, भूत आदि किसे कहते हैं? टीकाकार ने इस संबंध में एक श्लोक उद्धृत किया है:—

प्राणा द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः।

जीवा पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषा सत्वा इतीरिताः॥

अर्थात्–दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय वाले जीव प्राणी (प्राण) कहलाते हैं, वनस्पतिकाय को भूत कहते हैं, पंचेन्द्रिय को जीव कहते हैं और शेष चार स्थावरों को सत्व कहते हैं।

प्राणी, भूत, जीव और सत्व की यह व्याख्या भी की जाती है और दूसरी व्याख्या यह भी की जाती है कि यह चारों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। अर्थात् प्राणी, भूत, जीव और सत्व, एक ही हैं। प्राण धारण करने वाला प्राणी कहलाता है। यों तो दस प्राण माने जाते हैं लेकिन मूलभूत प्राण चार ही हैं–इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुष्यप्राण और श्वासोच्छ्वासप्राण, इन्हीं चार प्राणों के दस भेद हो जाते हैं। यह प्राण जिसमें हों वह प्राणी कहलाता है। जिसका नाश न कभी हुआ हो और न होगा वह भूत कहलाता है। जो भूतकाल में भी जीता था, वर्त्तमानकाल में भी जीता है और भविष्यकाल में भी जीता रहेगा वह जीव कहलाता है। जो तीनों कालों में चैतन्य शक्ति से युक्त बना रहता

है, वह सत्व कहलाता है। प्राणी, भूत आदि प्रत्येक का यह लक्षण प्रत्येक जीव में पाया जाता है, अतएव प्राणी, भूत आदि अलग-अलग न होकर एक ही हैं।

प्राणी, भूत, जीव और सत्व, की यह दोनों व्याख्याएँ की जाती हैं और दोनों में से किसी को भी असंगत नहीं कह सकते। अन्यतीर्थी कहते हैं—कोई भी व्याख्या हो लेकिन यह सब प्राणी आदि बिना किये दुःख से ही वेदना भोगते हैं, किये हुए दुःख से वेदना नहीं भोगते।

जिनका नाम लेकर यह प्रश्न किया गया है, वह अन्यतीर्थिक तो भगवान् के सामने थे नहीं, पूछने वाले गौतम स्वामी हैं और उत्तर देने वाले भगवान् ऐसी दशा में अन्यतीर्थी का उल्लेख करके प्रश्न क्यों किया गया? गौतम स्वामी ने अपनी तरफ से ही यह क्यों नहीं पूछ लिया कि—भगवन्! जीव अपने किये दुःख भोगते हैं अथवा बिना किये दुःख भोगते हैं? अन्यतीर्थी ऐसा कहते हैं, इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता थी? किस प्रयोजन के लिये गौतम स्वामी ने ऐसा कहा है?

गौतम स्वामी के इस प्रकार कथन करने का वास्तविक कारण क्या है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन मैं अपनी बुद्धि से कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करता हूँ।

अगर गौतम स्वामी यह पूछते कि दुःख बिना किये ही होता है या करने से होता है, तो यह प्रश्न गौतम स्वामी का निजी होता। भगवान्, गौतम स्वामी के प्रश्न का भी उत्तर देते। फिर भी गौतम स्वामी ने अन्यतीर्थी का उल्लेख करके प्रश्न किया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि उस समय के कुछ तत्त्वचिन्तकों के सामने जो प्रश्न उठा था और उन्होंने अपनी समझ के अनुसार उसका जो समाधान किया था, गौतम स्वामी ने उसे भगवान् के समक्ष उपस्थित किया है। ऐसा कहने वाले लोग चाहे अन्यतीर्थी कहलाते हों, मगर ज्ञानी महापुरुषों की दृष्टि में तो सभी जीव समान दिखाई देते हैं। उनकी दया प्राणीमात्र पर समान होती है। जो दया करके संसार के सब जीवों को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करता है—सब जीवों को कल्याण का पथ प्रदर्शित करता है, वह भाव-करुणालु है। अगर वह ऐसा सोचते कि जगत् बिगड़ता है तो बिगड़े! इसमें मेरी क्या हानि है? तो वह भगवान् से ऐसा प्रश्न न करते। मगर गौतम स्वामी ने उन विपथगामी जीवों को भी अपने समान ही समझा, इसी कारण उनकी मान्यता के विषय में भगवान् से प्रश्न किया। वास्तव में सब जीवों को आत्मतुल्य माने बिना पूर्ण समभाव भी नहीं आता। पूर्ण समभाव तो संसार के सब जीवों को आत्मतुल्य मानने पर ही आता है।

आपके शरीर का एक अंग बिगड़ जाय तो आप उसका इलाज कराते हैं या नहीं ? उस अंग को आप अपना ही समझ कर उसका इलाज कराते ही हैं। इसी प्रकार जिन महापुरुषों ने सब जीवों को अपना आत्मा मान लिया है, वे अगर किसी जीव में कोई रोग देखें तो उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ? ज्ञानी पुरुष तो उनके भाव-रोग को मिटाने का यत्न करेंगे ही। फिर उसका रोग मिटता या न मिटता दूसरी बात है, लेकिन वे अपनी ओर से तो प्रयत्न करेंगे ही। वे उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं मानेंगे।

रोगी अनेक हैं और उनके रोग भी बहुत कुछ अनेक प्रकार के हैं। वैद्य एक ही है। वह किस-किस की दवा करेगा ? अर्थात् उलटे विचार के लोग बहुत हैं और उनका विचार करने वाले एक हैं। ऐसी दशा में वह किसे-किसे समझा सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि कोई सार्वजनिक दवाखाना न तो सब को औषध पूरी कर सकता है और न सब लोग वहां से दवा ही ले जा सकते हैं। फिर भी उसे क्या सार्वजनिक दवाखाना नहीं कहते ? दवा सब को पूरी हो सके या न हो सके, सब लोग दवा लें या न लें, लेकिन वह खुला सब के लिए है। चाहे राजा हो, चाहे रंक हो, जो कोई वहां दवा लेने आता है, उसे बिना किसी भेद-भाव के दवा दी जाती है। इस कारण वह सार्वजनिक दवाखाना कहलाता है। इसी प्रकार भगवान् महावीर जगद्गुरु कहलाते हैं,

क्योंकि वह सब को समान भाव से उपदेश देते हैं । कोई उस उपदेश को ग्रहण करे या न करे, यह उनके भाग्य की बात है । उन्होंने जगद्गुरु होने के कारण सम्पूर्ण जगत् को उपदेश दिया है अथवा यह कहिए कि सम्पूर्ण जगत् को उपदेश देने के कारण वह जगद्गुरु कहलाते हैं । उन्होंने समस्त जगत् का हित सोचा है । फिर जिनका सद्भाग्य होगा वह उससे लाभ उठाएगा और जिसका दुर्भाग्य होगा वह लाभ नहीं उठाएगा ।

आप उन जगद्गुरु के शिष्य हैं । अगर आपने सब जीवों के कल्याण का ध्यान नहीं रक्खा तो फिर आप उनके चेले कैसे ? जगद्गुरु का सच्चा शिष्य जगत्-हित का ध्यान रक्खेगा ।

अन्यतीर्थी कहते हैं—दुःख बिना किये ही होते हैं । जब यह प्रश्न किया जाता है कि दुःख बिना किये कैसे होते हैं ? तो इसके उत्तर में वह कहते हैं—हम यदृच्छा तत्व मानते हैं । इस यदृच्छा तत्त्व के अनुसार निष्कारण ही सब कुछ होता रहता है । क्या हो और क्या न हो, कोई नियम नहीं है । इसी प्रकार कब, कैसे, कहां, क्या हो, इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं है । जब, जैसे, जहां जो कुछ हो गया सो हो गया । यही अदृच्छावाद का सिद्धांत है ।

नियतिवाद और यदृच्छावाद में अन्तर है । नियतिवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य का एक भविष्य निश्चित है । जो कुछ भवि-

तथ्य है वही होता है। लेकिन यदृच्छावाद के अनुसार कोई नियतता नहीं है। अकस्मात् जब, जो कुछ हो गया सो हो गया। इनके मत से सारा जगत् अतर्कित है। इसमें किसी तर्क को स्थान नहीं है। न जाने कब क्या हो जाता है? सोचते कुछ हैं, होता कुछ है। जगत् में कहीं कोई नियमितता नहीं है।

रामचन्द्र के विषय में यह सोचा गया था कि कल इन्हें राज्य दिया जायगा, परन्तु दिया गया वनवास। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व अतर्क्य है। इसमें जो भी सुख-दुःख होता है, वह किसी का किया हुआ नहीं होता, वरन् आप ही आप हो जाता है। सुख-दुःख के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। एक कौआ ताल वृक्ष के नीचे गया। वह नहीं जानता था कि यहाँ जाने से मेरा मरण होगा। लेकिन पवन के कारण ताल का एक फल टूट कर कौआ के ऊपर ऐसा गिरा कि कौआ मरगया। न कौआ ने ही सोचा था कि मैं वहाँ जाकर मरूँगा और न फल ने ही सोचा था कि मैं कौए को मारूँगा। फिर भी यह अतर्कित घटना हो ही गई। इस संसार में सर्वत्र यही होता है। अतएव किसी प्रकार का अभिमान या किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। यदृच्छावादी कहता है—'जगत् अतर्कित है, फिर यह अभिमान क्यों करते हो कि मैं ऐसा करता हूँ! और कुछ न होने पर चिन्ता करने की भी क्या आवश्यकता है? यदृच्छातत्व की छत्र-छाया में जो आ

जाता है, वह सब तरह से चिन्तामुक्त और अहंकार से हीन हो जाता है। हम सब प्रकार की चिन्ता से छुटने के लिये ही यदृच्छावाद का अमृत सब को पिलाते हैं। इसलिए हमारे सिद्धान्त का आश्रय लो और यह अमृत पीकर निश्चित होओ।'

यदृच्छावाद का भ्रम मिटाने के लिये भगवान् ने यथासंभव बहुत कुछ कहा है। उस कथन को समझना अथवा न समझना और मानना या न मानना अपनी-अपनी मर्जी की बात है। जगद्गुरु होने के कारण भगवान् ने जगत् के विभिन्न भ्रमों के निवारण का पूरा प्रयत्न किया है। उससे जो लाभ उठाएगा वह सुखी होगा! सार्वजनिक दवाखाना खुला है। जिसकी इच्छा हो, दवा ले। किसी को मनाई नहीं है। किसी पर जबर्दस्ती भी नहीं है। जिसका शुभ होना है, दवा लेगा। जिसके अशुभ कर्मों का उदय है, वह दवा नहीं लेगा।

यदृच्छावादी जो सिद्धान्त प्रकट करते हैं, क्या वह स्वयं उसका पालन कर सकते हैं? वे दूसरे को निश्चिन्त करना चाहते हैं परन्तु खुद किस दर्जे तक अपने सिद्धान्त पर चलते हैं? उनके सिद्धान्त के अनुसार भूख-प्यास न लगाने से लगती है, न मिटाने से मिटती है। फिर उसे मिटाने का उद्योग किस लिए किया जाता है? क्या यदृच्छावादी ऐसा प्रयत्न नहीं करते? किसी की मोहरों की थैली चोर ले गया। अब चोर कहता है—

'न मेरे लाने से थैली आई है, न आपके रहने से रह सकती है।' ऐसा कहने वाले चोर को यदृच्छावादी क्या उत्तर देंगे? क्या वे चोर के ऐसा कहने से संतोष कर लेंगे ? यदि नहीं तो जब ऐसी छोटी-छोटी बातों में भी अपने सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह सकते, तो ऐसा सिद्धान्त बताकर लोगों को गुमराह करने की क्या जरुरत है ? यह सिद्धान्त बतलाना लोगों को पुरुषार्थहीन और आलसी बनाना है। यह मिथ्या सिद्धान्त सुनकर लोग यही सोचेंगे—उद्यम करने की आवश्यकता ही क्या है ? जो जब होगा सो होगा। अपने किये क्या होना है ? इस प्रकार यह सिद्धान्त मानव-समाज के लिए अहित ही सिद्ध होता है। भगवान् गौतम स्वामी से कहते हैं—हे गौतम ! बिना की हुई क्रिया नहीं लगती। क्रिया करने से ही लगती है।

दो भाई दवा लेने के लिए दवाखाने गये। एक के पेट में दर्द था और दूसरे को खांसी थी। वैद्य ने दोनों की दवा लिखकर पर्चा दे दिया और दवा लेने को कह दिया। वे दवा लेने चले मगर भूल से पर्चा बदल गया। और इस कारण दवा भी बदल गई। पेट के दर्द वाले ने खांसी की दवा खाई और खांसी वाले ने पेट के दर्द की दवा खाई। इससे उन्हें तकलीफ तो हुई मगर आराम नहीं हुआ। कालान्तर में फिर वैद्य के पास गये वैद्य ने कहा-मैंने दवा तो अकसीर दी थी। मगर लाभ क्यों नहीं हुआ ? अन्त में उसने दोनों के पर्चे देखे और पर्चों की

अदलाबदली समझ गया। उसने कहा—पर्चे बदल जाने के कारण तुम्हें लाभ नहीं हो सका।

इस प्रकार की साधारण भूल से भी जब लाभ के बदले हानि होती है, तब 'करने से कुछ नहीं होता' इस घोर विपर्यास से भरी हुई भूल से कितना अनर्थ नहीं हो सकता? अगर सब कुछ यदृच्छा से ही होता है तो कौर मुख में डालने का पुरुषार्थ भी क्यों किया जाता है? मुख का कौर कान में क्यों नहीं डाल लिया जाता? कानों में ऊँगली डाल कर क्यों नहीं सुना जाता? इस प्रकार यदृच्छावाद का यह एकान्त उपहास का पात्र ही है और मनुष्यों को प्रमादी, पुरुषार्थ हीन एवं अकर्मण्य बनाने वाला है।

कोई भी कार्य बातें करने से नहीं, क्रिया करने से ही होता है। विचार, उच्चार और आचार की त्रिपुटी मिलने पर ही कार्य की सिद्धि होती है। जिस काम को करने का विचार ही न होगा वह काम कैसे हो सकता है? विचार हुआ लेकिन उसकी दृढ़ता रूप मानसिक उच्चार भी न हुआ तो भी कार्य सिद्ध नहीं होगा। मानसिक दृढ़ता भी हुई लेकिन क्रिया न की तो भी कार्य होना असंभव है।

कल्पना कीजिए, किसी महिला ने कुछ लोगों को जिमाने का विचार किया। विचार होने पर उसने निश्चय किया और

वह उन लोगों के पास गई। उन्हें न्यौता दे आई। यह विचार भी हुआ और उच्चार भी हुआ। लोग जीमने आये मगर उस महिला ने भोजन नहीं बनाया था। लोग पूछने लगे—जीमने के लिए क्या बना है? तब वह कहने लगी—आप लोगों को जिमाने का विचार आया और मैं आप को निमंत्रण दे आई। इस प्रकार विचार हो गया। और उच्चार भी हो गया। अब सिर्फ आचार रह गया। जब दो हो गये और एक रह गया तो क्या हानि है? अगर कोई बहिन ऐसा करे तो आप उसे क्या कहेंगे? क्या दूसरी बार उसके निमंत्रण देने पर आप उसके घर भोजन करने जाएँगे? कौन उसका विश्वास करेगा? अतएव विचार, उच्चार और आचार—तीनों की आवश्यकता है। इनके तीनों के होने पर ही कार्य होता है।

आप कहेंगे, फिर हमें क्या करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि कार्य की कमी नहीं है। कमी कार्य करने वालों की है। कार्य तो आपके सामने ही पड़ा है। लेकिन उसे आप ठुकरा रहे हैं। पहला काम है, मन, वचन और काय की शुद्धि करना। इसमें भी मन की शुद्धि सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। लोग कहते हैं, भगवान् शान्तिनाथ का नाम जपने पर भी शान्ति नहीं होती। लेकिन वास्तविक शान्ति कब मिल सकती है, इस बात को उन्होंने भुला दिया है। अगर आप यह मानते हैं कि मानसिक शुद्धि होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है, तो पहले मन शुद्ध क्यों

नहीं करते ? मन शुद्ध करके भगवान् शान्तिनाथ का नाम लो और फिर देखो कि शान्ति मिलती है या नहीं ? मतलब यह है कि सर्वप्रथम मनःशुद्धि की आवश्यकता है।

मन और तन का घनिष्ट संबंध है। मन में चिन्ता होने पर शरीर भी सूखता जाता है। जिसका मन बलवान् है, उसका शरीर चाहे कृश ही क्यों न हो, बलवान् ही है। मन बलवान् होने पर शरीर में भी तेज रहता है। अतएव शरीर को शुद्ध रखने के लिए भी मन को बलवान् बनाने की आवश्यकता है। मन शुद्ध रखने से ही वह बलवान् बनता है। इस लिए पहले मन को शुद्ध बनाओ। त्याग, वैराग्य, भक्ति, स्वाध्याय आदि का साक्षात् फल मनको शुद्ध रखना ही है। अतएव मानसिक शुद्धि के लिए प्रयत्न करो।

भगवान् शान्तिनाथ के नाम का बहुत महत्व बताया गया है। मगर प्रश्न होता है कि भगवान् शान्तिनाथ का नाम लेने से पेट का दुखना बँद हो जायगा ? आग लगी हो और भगवान् शान्तिनाथ का नाम बोल दे तो क्या आग बुझ जायगी ? अगर नाम लेने पर भी पेट का दुःख नहीं मिटा और आग नहीं बुझी तो भी क्या भगवान् शान्तिनाथ के नाम में करामात मानोगे ? गजसुकुमार मुनि ने पूर्ण शान्ति के लिये छहकाय के जीवों के साथ मित्रता जोड़ कर सब से क्षमायाचना करके श्मशान में जा

कर ध्यान किया। फिर भी सोमल ने आकर उनके सिर पर आग रख दी। क्या यह शान्ति हुई ?

इस विषय में ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि मनकी उच्चतम भावना ही धर्म है। मनकी उच्च श्रद्धा का फल ही धर्म है। वह श्रद्धा अंतरंग में शान्ति भर देती है तो बाहरी अशान्ति, अशान्ति ही नहीं रह जाती और न वह मनुष्य को अशान्त बना सकती है। गजसुकुमार मुनि को सिर पर अंगार रख देने पर भी पूर्ण शान्ति प्राप्त हुई। जलते हुए अंगार भी उनकी शान्ति में विघ्न उपस्थित करने में समर्थ न हो सके। उन्हें सिद्धि मिली। उनकी श्रद्धा फलीभूत हुई। फिर धर्म से लाभ हुआ या नहीं ? लोग केवल विचार और उच्चार से ही कार्य की सिद्धि चाहते हैं, आचार नहीं करना चाहते। फिर भी कहते हैं-भगवान् शान्तिनाथ के नाम का जप करने पर भी शान्ति नहीं हुई। अतएव आचार करो। धर्म दृढ़ता और धैर्य का है। धर्म में कितना धैर्य और कितनी दृढ़ता है, इस बात की परीक्षा समय पर ही होती है। कहा भी है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपति काल परखिये चारी॥

यों तो सब अपने आप को धीर और धर्मात्मा कहते हैं, खाने-पीने के समय बहुत-से मित्र बन जाते हैं और सम्पत्ति

के समय स्त्री भी बहुत प्रेम करती है, लेकिन इन चारों की परीक्षा आपत्ति के समय होती है। आपत्ति के समय में भी धर्म पर विश्वास रखने वाला धर्मात्मा है। जो आपत्ति काल में धैर्य रखता है वही धीर है। इसी प्रकार विपत्ति में सहायता पहुँचाने वाला सच्चा मित्र और विपत्ति के समय में भी निष्कपट प्रेम करने वाली सच्ची पत्नी है। जो सम्पत्ति के समय प्राणनाथ आदि सुन्दर सम्बोधन करती है लेकिन विपत्ति आने पर पति का परित्याग कर देती है, वह भी क्या स्त्री है! सीता चाहती तो राम के वन-गमन के समय बहुत से अपराध निकाल सकती थी और साथ न जाने के लिए अनेक बहाने बना सकती थी, लेकिन उसने ऐसा किया होता तो अपने धर्म का पालन नहीं कर सकती थी। धर्म तो उच्च कोटि की भावना से ही हो सकता है। वास्तव में कर्त्तव्यपालन के समय धर्म की ओट लेकर कायरता दिखलाना अनुचित है। यह धर्म नहीं, धर्म का दुरुपयोग है। कर्त्तव्यपालन करने में कदाचित् कोई संकट आता हो तो भी उसके भय से विचलित न होकर कर्त्तव्यपालन करना चाहिए। घड़ी में जिस समय चाबी दी जाय उसी समय वह चले और चाबी देना बंद करते ही रुक जाय तो वह घड़ी खोटी समझी जाती है। इसी प्रकार सामायिक में बैठने पर समभाव रक्खा मगर दुकान पर जाने के समय किसी का गला काटने में संकोच न किया तो यह धर्म हुआ या कर्म हुआ? अपना काम करते हुए भी अपने को

परमात्मा का सेवक समझे और यह माने कि मैं जो करता हूँ परमात्मा की साक्षी से करता हूँ, ऐसा समझ कर धर्म को सदैव याद रक्खे। तभी समझना चाहिए कि मैंने धर्म को पहचाना है। ऐसा करने वाला ही सच्ची धर्म क्रिया करता है और उसी को धर्मक्रिया के फल की प्राप्ति हुई है।

अन्यतीर्थी कहते हैं—क्रिया, करने से पहले दुःख देती है, करने बाद भी क्रिया दुःख देती है लेकिन करते समय दुःख नहीं देती उदाहरणार्थ—कोई पुरुष बंबई जाने का विचार करता है। वह ऐसा विचार करके बंबई चला। चलने में तो दुःख होता ही है, लेकिन उन लोगों का कहना यह है कि बंबई जाने की क्रिया पहले तो दुःख देती है, मगर चलते समय दुःख नहीं देती, हां चल चुकने के बाद फिर दुःख देती है। ऐसा उनका कथत है, जिसकी उन्मत्त प्रलाप कहकर उपेक्षा की गई है। लेकिन किसी की सैद्धान्तिक बात की एकदम उपेक्षा कर देना ठीक नहीं है, यह विचार कर उनकी बात पर कुछ विचार भी किया है। टीकाकार कहते हैं कि यह बात है तो उपेक्षा के योग्य ही, मगर बिलकुल उपेक्षा के योग्य ही होती तो गौतम स्वामी ने प्रश्न के रूप में भगवान् के सामने न रक्खी होती। जैसे किसी मद पिये हुए आदमी की बात पर राजा विचार नहीं करता, इसी प्रकार इस बात पर भी विचार करने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन गौतम स्वामी ने ऐसी ही उपेक्षा की होती तो वे भगवान्

के सामने प्रश्न रूप में न रखते। अतएव इस पर विचार करने के लिए वे पहले पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं।

किसी भी क्रिया को करने से पहले उसका विचार करना पड़ता है। उस विचार के कारण मानसिक ताप होता है-यह विचार आता है कि इसे करें या न करें। इस कारण क्रिया, करने से पहले दुःखरूप होती है। फिर क्रिया की जाती है। जब वह की जाती है, उस समय दुःख नहीं रहता। और क्रिया करने के पश्चात् फिर दुःख होता है। अर्थात् क्रिया करने के बाद एक प्रकार की थकावट होती है और उससे दुःख होता है।

अन्यतीर्थियों के इस पक्ष को उदाहरण से समझिए आपको विश्वास है कि अमुक जगह जाने से हमें हजार रुपये का लाभ होगा। लाभ के लोभ से आप जाते हैं और जाते समय आपको थकावट, भूख, प्यास आदि का विचार नहीं होता। लेकिन वहाँ जाने पर या तो काम बिगड़ जाता है या और कोई गड़बड़ी पैदा हो जाती है, तो कैसी थकावट आदि का दुःख होता है? किसी के घर विवाह या अन्य कोई समारोह होता है तो जब तक वह उसमें व्यग्र रहता है, तब तक उसे थकावट नहीं मालूम होती। लेकिन समारोह सम्पन्न हो जाने पर बेहद थकावट प्रतीत होने लगती है। इसी कारण अन्यतीर्थी कहते हैं कि करते समय क्रिया दुःख नहीं देती किन्तु करने से पहले और

नहीं हो सकती और न भविष्य कालीन ही। वर्त्तमान काल की क्रिया ही दुःख का कारण होती है।

वर्त्तमान में कार्य का जो प्रारंभ हुआ है वही दुःख है। अगर वर्त्तमान में दुःख न हो तो भूत-भविष्यकाल में दुःख हो ही नहीं सकता। जैसे–विवाह से पहले विवाह के सम्बन्ध के विचार से दुःख होता है और विवाह हो जाने के बाद थकावट से दुःख होता है, यह ठीक है, लेकिन जब विवाह–कार्य में ही दुःख न होगा तो उससे पहले या उसके बाद दुःख कैसे हो सकता है ?

आचारांगसूत्र में कहा है कि पृथ्वीकाय का आरम्भ आठ कर्म की गांठ है। प्रश्न होता है कि वह आरम्भ गांठ है या उस से लाने वाले कर्म गांठ है ? मगर वहाँ आरम्भ को ही गांठ कहा है और यह भी कहा है कि यही नारकी है, क्योंकि कारण होते ही कार्य का सद्भाव माना जाता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—जो लोग भूत और भविष्य में दुःख मानकर वर्त्तमान में दुःख नहीं मानते, वे असावधानी में रहते हैं। अतएव वास्तविक दुःख तो वर्त्तमान में ही है। अगर वर्त्तमान में दुःख न हो तो भूत-भविष्य में भी दुःख नहीं हो सकता।

यह बात अनुभव से भी जानी जा सकती है। जब कोई कुपथ्य खाता है तो यही कहा जाता है कि-'कुपथ्य मत खाओ,

भगवान् के इस कथन का अभिप्राय क्या है ? अभिप्राय यही है कि हम भलीभाँति समझ लें कि जो दुःख हो रहा है, वह हमारा किया हुआ ही है। मान लीजिए, किसी को घोर कष्ट हुआ। उस समय वह कह सकता है—मैंने कभी कुपथ्य नहीं खाया, कभी प्राणातिपात आदि पाप नहीं किया; फिर मुझे यह कष्ट क्यों हो रहा है ? इसी लिए भगवान् ने कहा है कि बिना किये दुःख नहीं होता। तूने अभी नहीं किया है तो क्या हुआ ? पहले किया है। इसी कारण यह कष्ट पा रहा है। जो भी कष्ट होता है, वह तेरा ही किया हुआ है।

भगवान् महावीर स्वामी को साढ़े बारह वर्ष तक तप करना पड़ा। कष्ट भोगना पड़ा ? उन्होंने इस जीवन में पाप नहीं किया था, फिर भी कष्ट क्यों भोगना पड़ा ? मगर भगवान् कहते थे—मुझे जो कष्ट हो रहा है, वह मेरा ही किया हुआ है। मैंने अभी नहीं किया तो क्या हुआ। पहले किया है इसी कारण कष्ट हो रहा है। इस प्रकार भगवान् जैसे लोकोत्तर महापुरुष ने भी दुःख को अपना किया हुआ माना तो हम लोग किस गिनती में हैं ? हमें कष्ट हो, उसे अपना किया ही क्यों नहीं मानना चाहिए ?

स्त्रियों को भी समझना चाहिए कि सती सीता को भी कलंक लगने के कारण वन जाना पड़ा अपने को कष्ट हो तो क्या नवीनता है ? सीता दावा कर सकती थी कि मुझे वनवास देने

दुःख हो तो समझना चाहिए कि यह मेरा ही किया हुआ है। जब सुख हो तो अभिमान न करना और दुःख में दीन न होना वीर पुरुषों का लक्षण है। यह विवेकशील पुरुषों की पहचान है। यह मत समझो कि तुम्हें कोई दूसरा दुःख या सुख दे रहा है।

एक सेठ का लड़का था। उसके माँ-बाप मर गये। उसकी दुकान का काम मुनीम चलाता था। मुनीम लड़के को खर्च दिया करता था। इससे लड़का खुश होता और मुनीमजी का आभार मानता था। उसे यह नहीं मालूम था कि मुनीमजी देते हैं, मगर देते हैं किसकी तिजोरी में से ? उसे यह तो समझना ही चाहिए था कि यह सब मेरा ही है और मेरी ही तिजोरी से मिल रहा है।

इसी प्रकार, हे भव्य जीव, ! तुझे जो सुख मिल रहा है वह तेरा ही किया हुआ है। उस सुख को पाकर अभिमान क्यों करता है ? सारा सुख तेरी ही तिजोरी का है। इसी प्रकार दुःख भी तेरी ही तिजोरी का है। सुख-दुःख में ऐसा ज्ञान रक्खो अज्ञानी मत बनो।

मुसलमानों में मौत होने पर वे रोते नहीं हैं और हिन्दुओं में रोने का रिवाज है। अगर किसी को रोना नहीं आता तो भी उसे रोने का ढोंग करना पड़ता है। मेरे सांसारिक अवस्था के मामाजी जब मर गये थे, तब मैं बच्चा ही था और वहीं रहता

था। जब मरे तब तो मुझे सचमुच रोना आया, मगर जब कभी मेहमान आएँ तभी रोना कैसे आ सकता था? फिर भी बनावटी ऊँ-ऊँ करना ही पड़ता था। इस प्रकार बहुत-से लोगों को रोना नहीं आता, तब भी रोने का बहाना करना पड़ता है। स्त्रियों का रोना तो घूँघट में ही निभ जाता है। वे सचमुच रोती है या नहीं, इस बात का पता घूँघट में कैसे लग सकता है। मतलब यह है कि रोने की प्रथा के कारण जबरस्ती रोना पड़ता है। मगर केवल प्रथा पालन के लिये रोना तो रोने की हंसी उड़ाना है। इस प्रथा के कारण अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। किसी स्त्री के सामने परोसी हुई थाली आई कि इतने कोई स्त्री मातमपुर्सी के लिये आ जाती है। तो परोसी थाली को एक किनारे रखकर पहले रोना पड़ता है। अगर कोई दूसरा काम उसी समय करना होता है तो वह भी रोते-रोते ही करना पड़ता है। धैर्य बँधाने के लिए आई हुई स्त्रियाँ भी ऐसी-ऐसी बातें करती हैं कि रोना न आता हो तो आ जाय। इस प्रकार अनेक स्त्रियाँ दु:ख की पोटली फैंक जाती हैं। ऐसी कहने वाली स्त्री तो भाग्य से ही मिलेगी कि—'अबतक पति की सेवा की। अब पति नहीं है तो परमेश्वर की और धर्म की सेवा करो। धर्मध्यान करने से ही कल्याण होगा। इस आर्त्तध्यान से लाभ कुछ हो नहीं सकता हानि तो है ही।' इस प्रकार कह कर समझाने के बदले ज्यादा रूलाने वाले नर-नारी सगे कहे जाएँ या शत्रु समझे जाएँ? आप

एक दूसरे के प्रेमी के वेष में दुश्मन कबतक बने रहोगे। कम से कम इतना निश्चय तो कर ही लो कि कोई रोता न होगा तो उसे अपनी बातों में रूलाएँगे नहीं। साथ ही, न रोने वाले की अथवा कम रोने वाले की निन्दा नहीं करेंगे।

मतलब यह है कि सुख का अवसर हो या दुःख का, दोनों को ही अपने बोये हुए बीजों का ही अँकुर समझ कर ग्रहण करो। निश्चय जानो कि सुख—दुःख किये बिना नहीं होता। जो कर्म किया जाता है, उसका परिणाम उसी समय नहीं होता, लेकिन असल में दुःख-रूप तो वह कर्म ही है। इस प्रकार भविष्य की बात को वर्त्तमान में ही समझ लेना। ऐसा करने से सावधानी रहती है। जैसे भंग पीते ही नशा नहीं होता किन्तु कुछ देर बाद होता है, फिर भी भंग पीते समय ही यह समझ लेना चाहिए कि मैं नशा कर रहा हूँ। ऐसा समझने से नशे से अर्थात् भंग पीने से बचने का अवकाश रहेगा। इसी प्रकार भविष्य के दुःख को वर्त्तमान में ही समझ कर यह जान लेना चाहिये कि इस क्रिया से दुःख होगा। यानी मैं यह दुःख ही कर रहा हूँ। ऐसा समझने से दुःख से बचाव होगा। इसी लिए भगवान् ने कहा है—दुःख अपना किया होता है, बिना किया नहीं।

जो लोग सुख-दुःख को कर्मजन्य नहीं मानते या कर्म की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, उनके लिये एक गाथा बनाई गई

है। अगर इस एक ही गाथा का किसी योगीश्वर ने विचार किया हो तो उसे कुछ अपूर्व ही विचार उत्पन्न होगा। वह गाथा इस प्रकार है:—

जो तुल्लसाहणाणं, फलेविसेसो न सो विणा हेउं।
कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्व, हेऊपसे कम्मं ॥

इस सारे प्रकरण का संक्षेप में आशय यह है कि समान साधन वाले पुरुषों को फल में जो विशेषता होती है, वह निष्कारण नहीं है; क्योंकि वह विशेषता कार्य है। जो कार्य होता है, वह बिना कारण नहीं हो सकता, जैसे घट। घट कार्य है तो उसके लिए मिट्टी, चाक आदि कारणों की आवश्यकता होती है। वह कारणों के बिना उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार समान साधन वाले पुरुषों को भी फल में जो विशेषता देखी जाती है, उसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। जिस कारण से फल-प्राप्ति में विशेषता होती है, वही कारण कर्म कहलाता है। इस अनुमान-प्रमाण से कर्म की सिद्धि होती है।

मान लीजिए, दो किसानों ने खेती की। दोनों के पास खेत, बैल, हल, बीज आदि साधन समान हैं और दोनों ने परिश्रम भी किया है। फिर भी एक किसान के खेत में खूब धान्य हुआ और दूसरे के खेत में कम हुआ। इस प्रकार फल में विशेषता हुई।

दो आदमी समान पूंजी लगाकर समानरूप से व्यापार करते हैं। फिर भी एक को नफा और दूसरे को नुकसान होता है। जिन स्त्रियों का एक ही साथ में विवाह हुआ है, उनमें से एक संतानवती होती है और दूसरी विधवा हो जाती है। एक की स्त्री मर जाती है और दूसरे की स्त्री से घर बस जाता है। इस प्रकार का अन्तर प्रायः सर्वत्र देखा जाता है। अब प्रश्न यह है कि साधन समान होने पर भी यह अन्तर क्यों हुआ? फल में यह विशेषता किस कारण से आई? तुल्य साधन होने पर भी जो विशेषता आई है, वह निष्कारण नहीं है। उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। फल की विशेषता कार्य है और जगत् में जितने भी घट आदि कार्य देखे जाते हैं, उन सब का कारण अवश्य होता है। इस अटल नियम के अनुसार इस विशेषता का जो कारण है, उसे चाहे कोई कुछ भी नाम दे, हम उसे कर्म कहते हैं। कर्म से ही यह फल सम्बन्धी विचित्रता उत्पन्न होती है।

ज्ञानी पुरुष वितंडावाद से दूर रहते हैं, परन्तु जो बात सत्य होती है वह कह देते हैं।

ऐर्यापथिकी एवं साम्परायिकी क्रिया

मूलपाठ—

प्रश्न—अन्नउत्थियाणं भंते ! एवं आइक्खंति, जाव—'एवं खलु एगेजीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेंति । तंजहा—इरियावहियं च, संपराइयं च । जं समयं इरियावहिअं पकरेइ तं समयं संपराइअं पकरेइ; जं समयं संपराइअं पकरेइ तं समयं इरियावहिअं पकरेइ । इरियावहिआए पकरणयाए संपराइअं पकरेइ, संपराइआए पकरणआए इरियावहियं पकरेइ । एवं खलु एगेजीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेंति । तंजहा—इरियावहियं च, संपराइअं च ।' से कहं एअं भंते ! एवं ?

उत्तर—गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवं आइक्खंति, तं चेव जाव—जे ते एवं आहिंसु, मिच्छा ते एवं अहिंसु। अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि—एवं खलु एगे जीवे एगसमए एक्कं किरियं पकरेइ। परउत्थियवत्तव्वं णेयव्वं। ससमयवत्तव्वयाए णेयव्वं। जाव इरियावहिअं, संपराइअं वा।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—अन्ययूथिका भगवन् ! एवमाख्यान्ति, यावत्-'एवं खलु एको जीव एकेन समयेन द्वे क्रिये प्रकरोति। तद्यथा—ऐर्यापथिकीं च, साम्परायिकीं च। यं समयं ऐर्यापथिकीं पकरोति, तं समयं साम्परायिकीं प्रकरोति। यं समयं साम्परायिकीं प्रकरोति तं समयं ऐर्यापथिकीं प्रकरोति। ऐर्यापथिक्याः प्रकरणा तया साम्परायिकीं प्रकरोति, साम्परायिक्याः प्रकरणा तया ऐर्यापथिकीं प्रकरोति। एवं खलु एको जीवः एकेन समयेन द्वे क्रिये प्रकरोति। तद्यथा-ऐर्यापथिकीं च, साम्परायिकीं च।' तत् कथमेतद् भगवन् ! एवम् ?

उतर–गौतम ! यत् ते अन्यतीर्थिका एवमाख्यान्ति, तदेव यावत्–ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः । अहं पुनः गौतम ! एवमाख्यामि, एवं खलु एको जीवः एक समये एकां क्रियां प्रकरोति । परतीर्थिक वक्तव्यं नेतव्यम्, स्वसमय वक्तव्य तया नेतव्यम् । यावत् ऐर्यापथिकीं, साम्परायिकीं वा ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत्–'एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है । वह इस प्रकार–ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी । जिस समय (जीव) ऐर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय साम्परायिकी क्रिया करता है । और जिस समय साम्परायिकी क्रिया करता है उस समय ऐर्यापथिकी क्रिया करता है । ऐर्यापथिकी क्रिया करने से साम्परायिकी क्रिया करता है और साम्परायिकी क्रिया करने से ऐर्यापथिकी क्रिया करता है । इस प्रकार एक जीव, एक समय में दो क्रियाएँ करता है:—एक ऐर्यापथिकी और दूसरी साम्परायिकी ।' हे भगवन् ! यह क्या इसी प्रकार है ?

उत्तर–गौतम ! जो वह अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं–यावत् उन्होंने ऐसा जो कहा है सो मिथ्या कहा है ।

गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ कि एक जीव, एक समय में एक क्रिया करता है। यहाँ परतीर्थिकों का तथा स्व-सिद्धान्त का वक्तव्य कहना चाहिए। यावत्-ऐर्यापथिकी अथवा साम्परायिकी क्रिया करता है।

व्याख्यान

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है, उसे समझने के लिए प्रश्न में आने वाले शब्दों के अर्थ से परिचित हो जाना आवश्यक है। शास्त्रकारों ने दो प्रकार की क्रिया बताई है—एक ऐर्यापथिकी और दूसरी साम्परायिकी। गमनागमन को ईर्या कहते हैं और गमनागमन के मार्ग को ईर्यापथ कहते हैं। गमन-आगमन के मार्ग में होने वाली क्रिया ऐर्यापथिकी क्रिया कहलाती है। जो क्रिया कषाय से लगती है और जिसमें कषाय कारण है वह साम्परायिकी क्रिया कहलाती है। ऐर्यापथिकी क्रिया कषाय के क्षीण होने पर या उपशान्त होने पर ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में लगती है। साम्परायिकी क्रिया से संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है। ऐर्यापथिकी क्रिया में सिर्फ काय योग का निमित्त होता है। साम्परायिकी क्रिया में भी योग का निमित्त है, मगर उसमें कषाय की प्रधानता है। यह क्रिया दसवें गुणस्थान तक लगती है।

संसार-भ्रमण का कारण कषाय है। लोग सिर्फ आरम्भ को देखते हैं, मगर यह नहीं देखते कि आरंभ का कारण क्या

है ? महारंभ और अल्पारंभ में कषाय के कारण ही भेद है। जिसमें जितनी तीव्र कषाय है, उसमें उतना ही अधिक महा-आरंभ है। ठाणांग सूत्र के दूसरे ठाणे में कहा है कि पच्चीस क्रियाओं में से चौवीस क्रियाएँ साम्परायिक हैं और एक ऐर्यापाथिकी है।

गौतम स्वामी, भगवान् से कहते हैं—हे प्रभो ! अन्यतीर्थी लोग कहते हैं—जीव एक ही समय में सांपरायिकी और ऐरिया-पथिकी—दोनों क्रियाएँ करता है। उनका यह कथन मेरी समझ में नहीं आता। अतएव अनुग्रह करके आप ही निर्णय दीजिए।

यद्यपि इस प्रश्न का निराकरण स्वयं गौतम स्वामी ही कर सकते थे, मगर उन्होंने भगवान् से ही निर्णय कराया। भगवान् से निर्णय कराने के कारण आज हमारे लिए यह आधार है कि अमुक बात भगवान् की कही हुई है।

गौतम स्वामी के कथन का उत्तर भगवान्ने दिया—गौतम ! अन्यतीर्थिकों का यह कथन मिथ्या है कि एक जीव को एक समय में दो क्रियाएँ लगती हैं। जीव एक समय में दो क्रियाएँ नहीं कर सकता। एक ही कर सकता है। चाहे ऐर्यापथिकी क्रिया करे चाहे सांपरायिकी।

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि जो की जाय वह क्रिया कहलाती है। फिर एक साथ दो क्रियाएँ क्यों नहीं लग सकती ?

जिस समय ईर्या, अर्थात् गमन करने की क्रिया होती है, उसी समय कषाय भी रहता है और कषाय की क्रिया सांपरायिक है ! इस लिए ऐर्यापथिकी क्रिया के साथ सांपरायिकी क्रिया भी होनी ही चाहिए। इसी प्रकार जब सांपरायिक क्रिया होती है, तब योग भी रहता है और योग की क्रिया ऐर्यापथिकी है। ऐसी दशा में सांपरायिकी क्रिया के साथ ऐर्यापथिकी भी क्यों नहीं लगती ?

इस शंका का समाधान यह है कि केवल शब्द की व्युत्पत्ति से ही काम नहीं चलता। व्युत्पत्ति से तो, जो गमन करे उसे गौ कहते हैं, लेकिन गमन तो घोड़ा भी करता है। अतएव गौ का यही लक्षण मानने से अतिव्याप्ति होती है। इस लिये व्युत्पत्ति के साथ प्रवृत्ति निमित्त भी माना जाता है। यहां भी सिर्फ व्युत्पत्ति का विचार न करके यह देखना चाहिए कि भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह क्यों और किस कारण से कहा है ?

भगवान् के कथन का आशय यह है कि जब कषाय है तब ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं हो सकती। ऐर्यापथिकी क्रिया कषाय न होने पर ही होती है। जब तक कषाय है तब तक साम्परायिक क्रिया ही होती है, ऐर्यापथिकी नहीं होती और जब कषाय नहीं है तब साम्परायिक क्रिया नहीं हो सकती। इस प्रकार एक ही समय में दो नहीं किन्तु एक ही क्रिया हो सकती है।

उपपात-विरह

मूलपाठ—

प्रश्न—निरयगई णं भंते ! केवतियं कालं विरहिआ उववाएणं पण्णत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता । एवं वक्कंतीपयं भाणि अव्वं निरवसेसं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति जाव-विहरइ ।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—निरयगतिर्भगवन् ! कियन्तं कालंविरहिता उपपातेन प्रज्ञप्ता ।

उत्तर—गौतम ! जघन्येन एकं समयं, उत्कृष्टेन द्वादश मुहूर्तान् । एवं व्युत्क्रान्तिपदं भणितव्यं निरवशेषम् ।

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति यावत् विहरति ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन्! नरकगति कितने समय तक उपपात से विरहित कही है?

उत्तर—गौतम! जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक नरकगति उपपात से रहित कही है। इसी प्रकार यहाँ सारा व्युत्क्रान्ति पद कहना।

भगवन्! यह ऐसा ही है। यह ऐसा ही है। ऐसा कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

व्याख्यान—

ऐसा कितना समय व्यतीत होता है, जब कोई जीव नरक में उत्पन्न न हो? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है। इस प्रश्न का यहाँ संक्षेप में उत्तर दिया गया है कि ऐसा समय जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त है।

इस सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन प्रज्ञापना सूत्र के छट्ठे पद में किया गया है। वही विवेचन यहाँ समझ लेना चाहिये। समयाभाव के कारण उस सब का विस्तार के साथ यहाँ विवेचन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकरण का प्रश्नोत्तर में संक्षिप्त आशय यह है:—

गौतम—भगवन्! चारों गतियों में जीव निरन्तर ही उत्पन्न

होते रहते हैं या कोई ऐसा भी समय आता है, जब किसी गति में एक भी जीव उत्पन्न न हो ?

भगवान्—गौतम ! हाँ, ऐसा समय भी होता है।

गौतम—सब गतियों में एक ही समान समय का व्यवधान होता है ?

भगवान्—नहीं, गौतम ! एक समान व्यवधान नहीं होता, किन्तु भिन्न-भिन्न गतियों में भिन्न-भिन्न नियम है।

समुच्चय रूप से चारों गतियों में बारह मुहूर्त्त से अधिक का निकलने या उपजने का विरह काल नहीं होता। सब जगह जघन्य काल एक ही समय का है।

विशेष रूप से देखा जाय तो पहले नरक में चौबीस मुहूर्त्त का, दूसरे में सात अहोरात्र का, तीसरे में पन्द्रह अहोरात्र का, चौथे में एक मास का, पाँचवें में दो मास का, छठे में चार मास का और सातवें नरक में छह मास का विरहकाल होता है। कहा भी है:—

चउवीसई मुहुत्ता सत्त अहोरत्त तह य पन्नरस।
मासो य दो य चउरो, छम्मासा विरहकालो उ ॥

इस गाथा का अर्थ ऊपर आ ही चुका है।

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में तथा पहले और दूसरे देवलोक में चौवीस मुहूर्त्त का विरहकाल है। तीसरे

देवलोक में नौ दिन और बीस मुहूर्त्त का, चौथे देवलोक में बारह दिन दस मुहूर्त्त का, पाँचवें देवलोक में साढ़े बाईस दिन का, छठे देवलोक में पैंतालीस दिन का, सातवें देवलोक में अस्सी दिन का, आठवें देवलोक में सौ दिन का, नौवें और दसवें देवलोक में संख्यात महीनों का (जो एक वर्ष से अधिक न हों) ग्यारहवें और बारहवें देवलोकों में संख्यात वर्ष का विरहकाल होता है। ग्रैवेयक के पहले त्रिक में संख्यात सैकड़ों वर्षों का (जो एक हजार से अधिक न हों), दूसरे त्रिक में संख्यात हजारों वर्षों का और तीसरे त्रिक में संख्यात लाखों वर्षों का विरहकाल होता है। कहा भी है:—

भवण–वण–जोई–सोहम्मीसाणे चउवीस मुहुत्ताओ।
उक्कोस विरहकालो पंचसु वि जहन्नओ समओ।
णव दिन वीस मुहुत्ता बारस दस चेव दिणमुहुत्ताओ।
बावीसा अद्धं चिय, पणयाल असीइ दिवस सयं॥
संखेज्जा मासा आणय-पाणय एसु तहा आरणऽच्चुएवासा।
संखेज्जा विण्णेया, गेवेज्जेसुं अओ वोच्छं॥
हेट्ठिमवास सयाइं; मज्झि सहस्साइं उवरिये लक्खा।
संखेज्जा विन्नेया, जहासंखेसं तु तिसं पि॥

चार अनुत्तर विमानों में–विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक विमानों में–पल्योपम के असंख्यात भाग का

और सर्वार्थसिद्ध विमान में पल्योपम के संख्यात भाग का विरहकाल होता है। यथा-

पलिया असंखभागो उक्कोसो होई विरहकालो ओ।
विजयाई सु निद्दिट्ठो, सव्वेसुं जहन्नओ समओ॥

पांच स्थावरों से विरह होता ही नहीं है। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में अन्तर्मुहूर्त्त का विरह होता है। संज्ञी तिर्यंच तथा संज्ञी मनुष्य में बारह मुहूर्त्त का विरह होता है। अर्थात् इतने समय तक कोई उपजता या निकलता नहीं है। सिद्ध-अवस्था में छह मास का विरह होता है अर्थात् अधिक से अधिक छह मास तक कोई जीव मुक्त नहीं होता। मगर यह विरह काल सिर्फ उपजने का ही है। वहाँ से कोई जीव निकलता तो है ही नहीं। पएणवणासूत्र में विरहकाल का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

पहले शतक को पूरा करते हुए टीकाकार किस प्रकार अपनी लघुता प्रकट करते हैं, यह समझने योग्य बात है। वह कहते हैं—मेरी बुद्धि में प्रत्यक्ष ही बहुत बड़ी जड़ता है। अर्थात् मैं मूर्ख हूँ। और भगवतीसूत्र सागर के समान है और उसका प्रथम शतक सागर की खाड़ी के समान है। इसमें वर्णित पदार्थ समुद्र में भँवर के समान है। मेरे लिये इनसे पार होना कठिन है। मेरी क्या ताक़त कि मैं इनसे पार पा सकूँ! लेकिन गुरु

महाराज और पूर्वाचार्यों से मुझे जो विवरण रूपी नौका प्राप्त हुई है, उसके सहारे ही मैं इससे पार हुआ हूँ।

एक विद्वान् आचार्य ने भगवतीसूत्र का ऐसा महत्व प्रदर्शित किया है। वास्तव में इस सूत्र को गुरुसे समझने की आवश्यकता है। मगर आज कौन इसकी परवाह करता है? गुरुमुख से धारण बिना शास्त्र का गूढ़ मर्म समझने में आना कठिन होता है। अगर कोई थोड़ा-ब_ुत ज्ञानी भी हो तो भी उसे यही समझना चाहिये कि मैं कुछ नहीं जानता; किन्तु जो कुछ भगवान् ने कहा है, वही सत्य है।

सेवं भंते सेवं भंते गौतम बोल्या सई।
श्रीवीरजी का वचनां में सन्देह नई।
हाथ जोड़ी मान मोड़ी गौतम बोल्या सई।
श्रीवीरजी का वचनां में सन्देह नई।

प्रथम शतक समाप्त।

* ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः *